

द्विशा बोध

(‘श्रीमद् राजचंद्र’ पत्रांक-१६६, ४४९ एवं ५७२ पर
पूज्य भाईश्री शशीभाई के प्रवचन)



प्रकाशक
वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट
भावनगर

प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान :

□ वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट

५८०, जूनी माणेकवाडी,

भावनगर-३६४००१

फोन : (०२७८) २४२३२०७ / २५१५००५

□ गुरु गौरव

श्री कुन्दकुन्दकहान जैन साहित्य केन्द्र,

पूज्य सोगानीजी मार्ग, सोनगढ़

□ श्री आदिनाथ कुन्दकुन्द कहान जैन ट्रस्ट

विमलांचल, हरिनगर, अलीगढ़

फोन : (०५७९) ४१००१०/११/१२

□ श्री खीमजीभाई गंगर (मुंबई) : (०२२) २६१६१५९१

श्री डोलरभाई हेमाणी (कोलकाता) : (०३३) २४७५२६९७

अमी अग्रवाल (अहमदाबाद) : (०७९) R-२५४५०४९२, ९३७७१४८९६३

प्रथमावृत्ति : प्रत : १०००, द्वितीयावृत्ति : प्रत : १०००,

तृतीयावृत्ति : प्रत : ५०० (कुंदकुंदाचार्यदेव आचार्य पदवी दिन)

पृष्ठ संख्या : ८+२३६=२४४

लागत मूल्य : ३५/-

विक्री मूल्य : ३०/-

टाईप सेटिंग :

पूजा इम्प्रेसन्स

प्लोट नं. १९२४-बी,

६, शान्तिनाथ बंगलोझ

शशीप्रभु मार्ग, रुपाणी सर्कल के पास

भावनगर-३६४००१

फोन : (०२७८) २५६१७४९

मुद्रक :

भगवती ऑफसेट

१५/सी, बंसीधर मिल कंपाउन्ड

बारडोलपूरा,

अहमदाबाद

फोन : ९८२५३२६२०२

प्रकाशकीय (तृतीयावृत्ति)

‘दिशा बोध’ - इस छोटे से ग्रंथ को प्रकाशित करते हुए हमें अत्यंत आनन्द हो रहा है। वैसे तो धर्म प्राप्ति की भावना से मुमुक्षु जीव अनेकविध धर्म प्रवृत्ति करता है, फिर भी धर्म अभी तक प्रगट नहीं कर सका यह भी एक वास्तविकता है। इसका कारण यह रहा कि धर्म के क्षेत्र में आने के बावजूद भी अनेक प्रकार के चित्र-विचित्र उदय में **‘दिशा बोध’** के अभाव में उलटे प्रयत्न में लगा रहता है। जिसके कारण मार्गप्राप्ति से वंचित रहकर मनुष्यभ्रम हार जाता है और भवभ्रमण में भटकना चालू रहा है।

ऐसी अनेक प्रकार की भूलों से बचने के लिए निष्कारण करुणावंत सत्पुरुषों ने विध-विध प्रकार से मार्गदर्शन देकर जीवों को मोक्षमार्ग पर चढ़ाया है।

प्रस्तुत ग्रंथ द्वारा मुमुक्षु जीव अपनी भूमिका के योग्य सही समाधान व मार्गदर्शन विशेषतः उपलब्ध कर सकेगा, ऐसा विश्वास है। कृपालुदेव के अनेक गूढ़ पत्रों पर पूज्य भाईश्री शशीभाई ने अपनी रोचक, सरल व हृदयगम्य शैली में प्रवचन किये हैं। इस ग्रंथ में क्रमशः पत्रांक १६६, ४४९ व ५७२ पर हुए प्रवचन उपलब्ध हैं। जिसका संक्षिप्त विवरण **‘विषय प्रवेश’** में आगे दिया हुआ है।

इस ग्रंथ में छपे हुए सारे के सारे प्रवचन सर्व प्रथम अक्षरसः ऑडियो केसेट पर से लिख लिये जाते हैं। तत्पश्चात् इसके संपादन का कार्य भी केसेट सुनते-सुनते किया जाता है कि जिससे वचन में रही अंतरध्वनि (Under tone) व आशय को यथावत रखा जा सके। जहाँ जरूरत लगे वहाँ कौंस भरे हैं। तथा प्रेस में भेजने के पहले दूसरे मुमुक्षु द्वारा केसेट से मिलान कर लिया जाता है, अतः कोई

क्षति रह गई हो तो उसे मिटायी जा सके।

ऑडियो केसेट पर से प्रवचन अक्षरसः लिखने के कार्य हेतु श्री कनुभाई शाह, अहमदाबाद के हम आभारी हैं। और भी जितने मुमुक्षुओं ने इस ग्रंथ के प्रकाशन कार्य में अपना योगदान दिया है, उनके हम आभारी हैं। ग्रंथ के सुंदर टाइपसेटिंग के लिए 'पूजा इम्प्रेसन्स' व सुंदर मुद्रण कार्य के लिए 'भगवती ऑफसेट' के भी हम आभारी हैं।

वीतराग सत् साहित्य प्रकाशन के इस कार्य में तथा हिन्दी अनुवाद में कोई भी प्रकार की क्षति रह गई हो तो मन से, वचन से व काया से शुद्ध अंतःकरणपूर्वक वीतराग देव, गुरु, शास्त्र के प्रति हम क्षमा याचना करते हैं। पाठकवर्ग को यह हमारा नम्र निवेदन है कि कोई भी क्षति दृष्टिगोचर हो तो निःसंकोच हमें जानकारी दें। अतः भविष्य में ऐसी भूलों का पुनरावर्तन न हो।

अंततः इस ग्रंथ के स्वाध्याय से सर्व जीव मुक्तिपंथ की दिशा को प्राप्त हो, यही भावना।

दि. ३१-१२-२००७
(कुंदकुंदाचार्य आचार्य
पदवी दिन)

ट्रस्टीगण
वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट
भावनगर

**इस पुस्तक की किसी भी प्रकार से
आशातना या विराधना न हो इसका
लक्ष रस्वने की विनती।**

विषय प्रवेश

'दिशा बोध' - ऐसा नाम इस ग्रंथ का रखने के पीछे यही कारण है कि जीव को अनंतकाल के परिभ्रमण दौरान अनेकबार वीतराग देव, शास्त्र, गुरु की प्राप्ति तो हुई है फिर भी जिस 'सत्पात्रता' से जीव वंचित रहा है, तत्संबंधित दिशा मिले।

वर्तमानकाल में समीप समयवर्ती परमकृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजी, अध्यात्म युगपुरुष पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी, प्रशममूर्ति पूज्य बहनश्री चंपाबहन, पुरुषार्थमूर्ति पूज्य निहालचंद्र सोगानीजी एवं निष्कारण करुणाशील पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा प्रकाशित तत्त्वज्ञान में जगह-जगह पर अत्यंत सुंदर मार्गदर्शन आया है। जो मुमुक्षुजीव के लिए अत्यंत आधारभूत प्रकाशस्तंभ समान है।

परमकृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्र द्वारा लिखित पत्र अत्यंत गूढ़ भाषा में हैं। इसे समझने हेतु आत्मज्ञ सत्पुरुष पूज्य भाईश्री द्वारा हुए इन प्रवचनों में मुमुक्षु के लिए महत्त्वपूर्ण मार्गदर्शन भरा है। कृपालुदेव का हृदय-दर्शन भी इसमें जरूर होगा। पूज्य भाईश्री शशीभाई की सरल भाषारूप प्रवचन शैली प्रत्येक मुमुक्षु के लिए अमृत समान है। भवाटवी में भटक रहे मुमुक्षु जीव को मार्ग की दिशा का भान हो, सन्मार्ग में उसका प्रवेश और प्रगति हो इसके लिए प्रकाशरूप है।

वर्तमान काल में अनेक प्रकार की प्रवृत्तियों से घिरे हुए मुमुक्षु को उस प्रवृत्ति में कैसे प्रवर्तन करना इसका सुंदर मार्गदर्शन कृपालुदेव के अनेक पत्रों में निहित है। उनमें से पत्रांक : १६६, ४४९ व ५७२ पत्रों में मुमुक्षु जीव को कितनी हद तक सत्पुरुष के वचनों के प्रति अहोभाव व महिमा होनी चाहिए उसका निरूपण हुआ है। साथ ही साथ सांसारिक प्रसंगों में व पदार्थों में प्रवर्तित सुखबुद्धि

किस प्रकार क्षीण हो, इसका भी भाववाही शैली में निरूपण है।

प्रवृत्ति में व उदयमान प्रसंगों में कैसे उदासीन रहना ? उस उदासीनता का आधार क्या ? पंचेन्द्रिय के विषय में चल रही सुखबुद्धि को प्रयोगात्मक पद्धति से कैसे मिटाना ? सत्शास्त्रों का अभ्यास होने पर भी निजात्मस्वरूप का निर्णय - पहचान नहीं होने के पीछे कौन-कौन से कारण हैं ? वे कैसे मिटें ? इत्यादि अनेकविध विषयों का अत्यंत रसस्पद व उपकारी मार्गदर्शन इन प्रवचनों का मुख्य आकर्षण है।

मुमुक्षुजीव यदि उक्त मार्गदर्शन को जीवन में अंगीकार करे तो अनेक प्रकार के दोषों से बच सकता है, जो परिभ्रमण के कारणभूत हैं। यह बात प्रवचन पढ़नेवाले को अवश्य प्रतीति में आयेगी कि 'सत्पुरुष के एक-एक वाक्य में, एक-एक शब्द में अनंत आगम निहित हैं।'

अंत में, इस ग्रंथ को पाठकवर्ग में अर्पित करते हुए सर्व ज्ञानीपुरुषों के चरण में भक्तिभावपूर्वक वंदन करते हैं। सद्धर्मनैष्ठिक पूज्य भाईश्री शशीभाई के उपकार को हृदयपट पर अंकित कर, उपकृत हृदय द्वारा उन्हें कोटि कोटि प्रणाम करते हैं। इस ग्रंथ के अध्ययन से प्रत्येक जीव सद्धर्म को प्राप्त हो ऐसी मंगल कामना करते हैं।

इति शिवम्।

**जे जे कारण बंधना, तेह बंध नो पंथ;
ते कारण छेदक दशा, मोक्षपंथ भवअंत।**

- आत्मसिद्धि गाथा-९९

'दिशा बोध'
प्रवचन अनुक्रमणिका

प्रवचन क्रमांक	पत्रांक नंबर	पृष्ठ संख्या
०१.	पत्रांक-१६६	००१
०२.	पत्रांक-१६६	००५
०३.	पत्रांक-१६६	०२४
०४.	पत्रांक-१६६	०४१
०५.	पत्रांक-४४९	०५०
०६.	पत्रांक-४४९	०७९
०७.	पत्रांक-४४९	१०१
०८.	पत्रांक-४४९	१२६
०९.	पत्रांक-४४९	१४७
१०.	पत्रांक-४४९	१७१
११.	पत्रांक-५७२	१७७
१२.	पत्रांक-५७२	१८५
१३.	पत्रांक-५७२	२१०

‘मैं ज्ञानमात्र हूँ’

□

सुखधाम अनंत सुसंत चही,
दिनरात रहे तदध्यान महीं;
प्रशांति अनंत सुधामय जे,
प्रणमं पद ते वरते जयते.

□

पावन मधुर अद्भुत अहो ! गुरुवदनथी अमृत झर्या,
श्रवणो मळ्यां सदभाग्यथी नित्ये अहो ! चिद्रस भर्या.
गुरुदेव तारणहारथी आत्मार्थी भवसागर तर्या,
गुणमूर्तिना गुणगणतणां स्मरणो हृदयमां रमी रह्यां.

□

हुं एक, शुद्ध, सदा अरूपी, ज्ञानदर्शनमय खरे;
कंई अन्य ते मारुं जरी, परमाणुमात्र नथी अरे.

□

सहजात्मस्वरूप सर्वज्ञदेव परमगुरु

□

ॐ

वीतरागाय नमः

पत्रांक - १६६

बंबई, कार्तिक सुदी ६, मंगल, १९४७
सत्पुरुषके एक-एक वाक्यमें, एक-एक शब्दमें अनंत
आगम निहित हैं, यह बात कैसे होगी ?

निम्नलिखित वाक्य मैंने असंख्य सत्पुरुषोंकी सम्मतिसे
प्रत्येक मुमुक्षुके लिये मंगलरूप माने हैं, मोक्षके सर्वोत्तम
कारणरूप माने हैं :-

१. मायिक सुखकी सर्व प्रकारकी वांछा चाहे जब
भी छोड़े बिना छुटकारा होनेवाला नहीं है, तो जबसे इस
वाक्यका श्रवण किया, तभीसे उस क्रमका अभ्यास करना
योग्य ही है, ऐसा समझें।

२. किसी भी प्रकारसे सद्गुरुकी शोध करे, शोध
करके उसके प्रति तन, मन, वचन और आत्मासे अर्पणबुद्धि
करे; उसीकी आज्ञाका सर्वथा निःशंकतासे आराधन करे,
और तभी सर्व मायिक वासनाका अभाव होगा, ऐसा समझें।

३. अनादि कालके परिभ्रमणमें अनंतवार शास्त्रश्रवण,
अनंतवार विद्याभ्यास, अनंतवार जिनदीक्षा और अनंतवार
आचार्यत्व प्राप्त हुआ है। मात्र 'सत्' मिला नहीं, 'सत्'
सुना नहीं, और 'सत्'की श्रद्धा की नहीं, और इसके मिलने,
सुनने और श्रद्धा करनेपर ही छुटकारेकी गूँज आत्मामें

उठेगी।

४. मोक्षका मार्ग बाहर नहीं, परंतु आत्मामें है। मार्गको प्राप्त पुरुष मार्गको प्राप्त करायेगा।

५. मार्ग दो अक्षरोंमें निहित है और अनादि कालसे इतना सब करनेपर भी क्यों प्राप्त नहीं हुआ, इसका विचार करें।

प्रवचन - १ दि. २३-७-१९९८ - पत्रांक-१६६ (१)

पत्रांक - १६६। 'सत्पुरुषके एक-एक वाक्यमें, एक-एक शब्दमें अनंत आगम निहित हैं, यह बात कैसे होगी ?' स्वयं ने प्रश्न रख दिया है। जवाब नहीं दिया। यद्यपि प्रश्न में ही जवाब है। इसलिए जवाब नहीं दिया। यह भी इनकी एक पद्धति थी कि, स्वयं एक बात को स्थापित करें और फिर उस पर ही प्रश्न रख दें। जब कि बात तो प्रश्न में ही स्थापित कर दी हो ! प्रश्न में ही स्थापित कर दी हो।

मुमुक्षु :- मुमुक्षु के लिए परोक्ष भगवान की भक्ति विशेष उपकारी है या वर्तमान विद्यमान प्रत्यक्ष सत्पुरुष की भक्ति विशेष उपकारी है ? उस पत्र में भी प्रश्न पूछा है न ?

पूज्य भाईश्री :- हाँ, उसमें भी प्रश्न पूछा है। २७२ (पत्र में) भी ऐसी एक बात लिखी है। देखें २७२ पत्र।

'जिस महापुरुष का चाहे जैसा आचरण भी वंदनीय ही है; ऐसे

महात्मा के प्राप्त होनेपर यदि उसकी प्रवृत्ति ऐसी प्रतीत होती हो....' कौन ? सत्पुरुष । (जिसमें) शंका पड़े ही पड़े। '...तो मुमुक्षु कैसी दृष्टि रखे, यह बात समझने योग्य है।' बस ! प्रश्न करके छोड़ दिया। 'कैसी दृष्टि रखे ?' जबकि जवाब प्रश्न में ही दिया हुआ है। उनकी बात करने की ऐसी शैली है। स्वयं एक बात को स्थापित करते हैं, उस पर प्रश्न उठाते हैं और बात को छोड़ देते हैं। समझना होगा वह समझेगा, नहीं समझना होगा, वह रह जाएगा। बस ! पोस्टकार्ड में सवा दो पंक्ति लिखकर छोड़ दी है। जाईये ! कोई कुंवरजी मगनलाल नाम के मुमुक्षु हैं, जिसे पत्र लिखा है। ऐसी ही बात यहाँ (१६६ पत्र में) है।

सत्पुरुषके एक-एक वचन में.... एक-एक वचन में क्या.... एक-एक शब्द में अनंत आगम भरे हुए हैं, यह बात कैसे होगी ? सोचिये। बात तो ऐसी ही है। इनके एक शब्द में भी अनंत आगम हैं। एक-दो नहीं। यह बात कैसे होगी ? ऐसा कहा है।

मुमुक्षु :- एक शब्द में ऐसा जो लिया है, उसमें पारमार्थिक बात लेनी या व्यावहारिक बात, क्या लेना ?

पूज्य भाईश्री :- इसमें कोई लौकिक बात नहीं लेनी है। कोई लौकिक बातें करते हो इसकी बात नहीं, पारमार्थिक बात लेनी है।

जैसे कि एक शब्द - 'आत्मा' ! 'आत्मा' एक शब्द बोलें उसमें अनंत आगम रहे हैं। क्यों ? अनंत आगम किसमें से निकले ? कि, आत्मामें से निकले। वह आत्मा का परिज्ञान - अनुभवज्ञान जिनको है, उन्होंने आत्मा शब्द बोला तो आत्मा के ज्ञानपूर्वक आत्मा शब्द बोले न ! आत्मा ज्ञान में रखकर के (बोलते हैं)। आत्मा शब्द बोलते हुए उनके ज्ञान में आत्मा है। तो उस शब्द में अनंत आगम हैं। यानी कोई बात करते हैं तो अनेक नयों की संधि उसमें जुड़ी

हुई है। नय अनंत हैं। सभी नय वचनगोचर, सभी को होते नहीं। क्योंकि इतना आयुष्य किसीका होता नहीं। फिर भी, ज्ञान में जो आता है वह सभी की संधिपूर्वक आता है।

जिस श्रुतज्ञानमें से अनंत नय निकलते हैं, ऐसा श्रुतज्ञान का कोई धनी है तो वह आत्मा है। वह अनंत नयों का नयाधीश है। अधिपति है। और खुद का स्वरूप अनुभवगम्य है, इसलिए इनके एक वचन में क्या एक शब्द में अनंत आगम भरे हुए हैं। ऐसा कहकर (यह कहना है कि) इनके एक शब्द और एक वचन की महिमा कितनी होनी चाहिए !!

जैसे आगम को हम पूजते हैं। आगम की पूजा करते हैं कि नहीं करते ? शास्त्र पूजा (करते हैं न) ! तो (शास्त्र) पूजा की जितनी महत्ता है ऐसे ही सत्पुरुष के वचन की महत्ता है !! ऐसा कहते हैं। इतनी महिमा आवे तो इनकी वाणी के निमित्त-नैमित्तिक संबंध से सुननेवाले को परिणमन होवे ऐसी बात है। उसका परिणमन उपादान के साथ (संबंध रखता) है। जिसके उपादान में इसकी (वचन की) इतनी महिमा आयी कि, एक वचन में, एक शब्द में अनंत आगम रहे हैं !! उसको इसका (वचनों का) परिणमन आयेगा। उसका पारमार्थिक रहस्य पकड़ में आयेगा और उसको परिणमन होगा। वह बात कैसे होगी ? कि, ऐसी होगी, ऐसा कहते हैं। उसका (मुमुक्षु जीव के) परिणमन के साथ संबंध है, ऐसी वह बात है। अगर इतनी महिमा आयी तो ! यह बात इस तरह से है।

मुमुक्षु :- अनंत आगम में जो विधि का रहस्य है वह एक वचन में आ जाता है ?

पूज्य भाईश्री :- वह सब आ जाता है। बारह अंग का सार आ जाता है। यहाँ तक रखते हैं।



प्रवचन - २ दि. २४-७-१९९८ - पत्रांक-१६६ (२)

श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत पत्र १६६ वाँ चलता है। कल थोड़ा विषय चला है। संक्षेप में फिर से लेते हैं।

‘सत्पुरुष के एक-एक वाक्यमें, एक-एक शब्दमें अनंत आगम निहित हैं, यह बात कैसे होगी ?’ प्रश्न तो विचार करने के लिए लिखा है। हकीकत को स्पष्टरूप से स्थापित की है। इस हकीकत को समझना है कि, ज्ञानीपुरुष के एक वाक्य में, अरे...! एक शब्द में अनंत शास्त्र निहित हैं। एक, दो, पाँच, पचीस शास्त्र नहीं किन्तु अनंत शास्त्र रहे हैं। यह एक हकीकत है, इस बात को खुद ने स्थापित की है। सौभाग्यभाई को लिखा हुआ पत्र है। उन्होंने उनको जिज्ञासा में रख दिया है कि यह बात आप कैसे समझेंगे ? **‘यह बात कैसे होगी ?’** यानी कि आप इस बात को कैसे समझेंगे ? ऐसा प्रश्न किया है।

कल थोड़ा स्पष्टीकरण दिया था कि सभी शास्त्र आत्मामें से प्रगट हुए हैं और इस आत्मा का जिसे आत्मज्ञान है - आत्म साक्षात्कार (जिसको) हुआ है, इन सारे शास्त्रों का उकेल इनके ज्ञान में होता है। जो आत्मज्ञानी हैं वे तमाम शास्त्रों में प्रतिपादित कथन की मर्यादा को सम्यग्ज्ञान में समझ सकते हैं। कहीं भी किसी भी शास्त्र वचन में उन्हें असमाधान नहीं होता। क्योंकि जो शास्त्र आत्मानुभव से लिखे गये हैं, ऐसा आत्मानुभव उन्हें वर्तता है, प्रगट हुआ है

इसलिए (असमाधान नहीं होता)। इसी प्रकार मुमुक्षुजीव को ज्ञानीपुरुष के शब्द की व वचन की इतनी महिमा आये तब उसे ज्ञानीपुरुष के वचन का परिणमन होने का निमित्त-नैमित्तिक संबंध से योग्यता की प्राप्ति होती है। ऐसा कहने का आशय है।

यह जो वाक्य लिखा इसके पीछे क्या आशय है ? इसका विचार किया जाये तो आशय ऐसा है कि अनंत आगम का जितना महत्व है इतना महत्व यदि ज्ञानी के एक शब्द का आ जाये तो उस शब्द के अनुसार परिणमन होने की योग्यता आ जाये और परिणमन हो जाये। अतः इस आशय से यह बात लिखी गई है।

अतः विद्वता चाहे कितनी भी हो (परंतु) मुमुक्षु को ज्ञानी के वचन पर टिप्पणी नहीं करनी चाहिए, वरना अभक्ति होगी। भक्ति तो अनंत शास्त्र के जितनी आनी चाहिए - कम नहीं। इसके बजाय अभक्ति होगी। ज्ञानी के वचन के प्रति कितनी भक्ति होती है ! यह लक्ष्य करने का आशय है कि, जिससे उन वचनों का परिणमन हो !

आता है समझ में ? ज्ञानी के शब्द का कितना महत्व होना चाहिए, कि जितना अनंत आगम का महत्व हमको है इतना महत्व हमको ज्ञानी के वचन का और शब्द का आना चाहिए। तभी हमारे परिणमन की योग्यता आयेगी। परिणमन का ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध तभी बनेगा। जैसा उपदेश है वैसा उपदेश का परिणमन होना जरूरी है। तभी तो उपदेश सुनने की सार्थकता है, वरना सार्थकता नहीं है। वह कब हो सकता है ? कि उस वचन की महिमा और उस वचन की भक्ति होवे तब। यह कहने का आशय है।

मुमुक्षु :- भाईश्री ! ज्ञानी के उपदेश में अनंत आगम हैं, वह बात तो बराबर है। मगर व्यावहारिक बात होवे तो वह भी जिनवाणी

ही है।

पूज्य भाईश्री :- ठीक है। उनका एक विकल्प भी आज्ञा के रूप में ले लें तो अपने को क्या नुकसान है ?

७५१ पत्र में तीन बातें लीं हैं। वहाँ 'आज्ञारुचि' शब्द लिया है। सत्पुरुष के (आप्तपुरुष के) वचन की प्रतीति। प्रतीति अर्थात् विश्वास। वे जो भी कहते हैं उसमें कोई अविश्वास या शंका को स्थान नहीं है, अवकाश ही नहीं है - नंबर एक। दूसरा 'आज्ञारुचि' - आज्ञारुचि माने क्या ? कि उनका विकल्प वही मेरे लिए उनकी आज्ञा है। फिर भले ही चाहे कोई सांसारिक बात हो तो भी हमें क्या दिक्कत है ? उसमें कोई बाधा है ? हमें दो विभाग करने की क्या जरूरत है ? कि जैसे यह तो पारमार्थिक और यह सांसारिक। पारमार्थिक बात मानना और सांसारिक नहीं मानना। ऐसी जरूरत हमें क्यों पड़ी ? हमें ऐसा करने की कोई जरूरत नहीं है। उनके विकल्पानुसार उस विकल्प को आज्ञा समझकर हम उसे शिरोधार्य करे तो हमें क्या नुकसान है ? यह कहिये।

मुमुक्षु :- सब प्रकार से फायदा ही है।

पूज्य भाईश्री :- बस ! फिर तो कोई बात रहती ही नहीं। दो विभाग करने की बात रहती ही नहीं।

काफ़ी बुद्धिवाले लोग तर्क-वितर्क करते हैं कि, शायद व्यवहार में इनकी भूल भी होती हो, तो हमें क्या करना ? ऐसे तर्क आते हैं ! हमारी इस विषय में काफ़ी चर्चा हुई है। (यही समझ लो) कि होनहार ऐसा होगा, भूल हुई तो होनहार ही कोई ऐसा था, ऐसे लो न ! आप भला उनकी भूल देखकर अभक्ति के परिणाम में आते हो और अपने आपको नुकसान करते हो इसका क्या ? उनकी भूल या बगैर भूल इसकी तुलना करने की आपको क्या

जरूरत है ? भूल हो तो भी मंजूर है और भूल नहीं हो तो भी मंजूर है। मुझे तो सब मंजूर है, जाईये ! उसको 'आज्ञारुचि' यानी आज्ञा की रुचि कहते हैं। संक्षेप में ले तो हमें दो विभाग करने की जरूरत नहीं है।

(यहाँ कहते हैं) 'निम्नलिखित वाक्य मैंने... प्रत्येक मुमुक्षु के लिए मंगलरूप माने हैं,...' यानी कि आत्मकल्याणकारी माने हैं। इसमें उन्होंने सम्मति ली है - '..असंख्य सत्पुरुषों की सम्मति से...' एक-दो-चार नहीं लिये, लाख-करोड़ नहीं लिये, असंख्य ले लिये और '...मोक्षके सर्वोत्तम कारणरूप माने हैं :-' नीचे उन्होंने पाँच वचनामृत लिखे हैं। 'निम्नलिखित वाक्य मैंने असंख्य सत्पुरुषों की सम्मति से प्रत्येक मुमुक्षु के लिए मंगलरूप माने हैं, मोक्ष के सर्वोत्तम कारणरूप माने हैं :-' (अर्थात्) पाँच वचनामृत लिखे हैं वे मुमुक्षु के लिए आत्मकल्याणकारी हैं, ऐसी मेरी मान्यता है। और असंख्य सत्पुरुषों की भी यही मान्यता है। और मोक्ष के सर्वोत्तम कारण हैं।

पहला वचन है - १. 'मायिक सुख की सर्व प्रकार की वांछा चाहे जब भी छोड़े बिना छुटकारा होनेवाला नहीं है,...' यह सिद्धांत (कह दिया)। मायिक सुख माने क्या ? कि जो सुख नहीं है लेकिन सुख लगता है, उसको मायावी सुख कहते हैं, मायिक सुख कहते हैं। यानी जीव सुख समझकर धोखा खाता है। उसको कहते हैं - मायिक सुख। भ्रम होता है।

प्रश्न :- दृष्टांतरूप से ?

समाधान :- बस ! पंचेन्द्रिय के विषय। दृष्टांतरूप से पंचेन्द्रिय के विषय। पाँच इन्द्रिय के विषयों की जीव को इच्छा होती है। अच्छा स्वाद लेना, अच्छा देखना, अच्छी सुगंध सूँघने का, अच्छा संगीत - कर्णप्रिय आवाज़ सुनना, व मन चाहा स्पर्श करना। ऐसी

जो इच्छा होती है वह सुखबुद्धि के कारण होती है। इसके पीछे अभिप्राय क्या है ? कि, मुझे इससे सुख मिलता है। वास्तव में किसीको सुख मिला नहीं, मिलता भी नहीं और मिलनेवाला है भी नहीं। क्यों ? कि अगर सुख मिलता तो इससे तृप्ति होनी चाहिए थी। परंतु किसीको तृप्ति नहीं होती। अतृप्तदशा में माने हुए सुख का सब त्याग करते हैं। क्या करते हैं ? अतृप्तदशा में जगत के सर्व प्राणी अपने माने हुए सुख का त्याग करते हैं । खाते-खाते खाने का त्याग, सुनते-सुनते सुनने का त्याग करते हैं कि नहीं ? सोते-सोते सोने का त्याग करते हैं, आराम करते-करते आराम का त्याग करते हैं कि नहीं ? अगर वास्तव में सुख होता तो क्यों छोड़ते ? बढ़ाते ही जाये...! बढ़ाते ही जाये....! जैसे जिस Business में (धंधे में) मुनाफा हो उस Business को आदमी बढ़ाता ही है कि नहीं ? फिर सुख हो ऐसी प्रवृत्ति को बढ़ायेगा या कम करेगा ? तो यहाँ तो बढ़ाने के बजाय बंद करता है ! तो इसका यह स्पष्ट सबूत है कि सुख वहाँ नहीं था अपितु धोखेबाजी (हो जाती है)। भ्रम से सुख लगा उसे मायिक सुख या मायावी सुख कहते हैं।

वह सुख, सुख नहीं है, ज्ञान की ऐसी स्पष्टतापूर्वक (मायिक सुख का अभिप्राय) छोड़ने पर छुटकारा होता है। यानी कि जीव के जन्म-मरण के, परिभ्रमण के सर्व दुःखों के कारणों का नाश होता है और मोक्ष की प्राप्ति होती है।

जब से यह सिद्धांत सुना तब से, ऐसा कहते हैं। **‘जब से इस वाक्य का श्रवण किया, तभी से उस क्रम का अभ्यास करना योग्य ही है, ऐसा समझें।** इस ‘क्रम’ का अभ्यास करना चाहिए। क्या कहा ? यूँ ही त्याग कर दिया ऐसे नहीं कि, चलो ! हमको तो अब सन्यास लेना है, त्याग करके चले जाना है, घर छोड़

देना है - ऐसे नहीं। क्रम से Practice (अभ्यास) करनी है कि वह कैसे छूटे ?

प्रश्न :- भाईश्री ! जब पदार्थ को छोड़ते हैं, उस समय तो अनुभव में वह दुःख लगता है तभी छोड़ते हैं। जैसे एक रसगुल्ला खाते हैं (फिर) पाँच रसगुल्ले खाते हैं तो उस समय अनुभव में तो दुःख लगता है। तो वह जो दुःख का अनुभव हुआ उसके बाद भी पदार्थ के प्रति जो सुखबुद्धि रह जाती है, उस सुख का क्या हुआ ?

समाधान :- उसका कारण यह है कि, जो सुखाभास में - उसमें सुख का Concept-misconcept जो है, वह वैसा का वैसा रह गया। उसमें कोई फ़र्क नहीं किया। और हमारी बुद्धिमानी वहाँ धोखा खाती है, कि जब हमको छोड़ना पड़ा फिर हमने सुख माना कैसे ? हम क्यों इस पर विचार नहीं करते ? इसकी गहराई में क्यों नहीं जाते ? कोई नहीं जाते, विषय बदल देते हैं। जैसे सोते-सोते थक गया तो बैठ जाएगा, बैठे-बैठे थक गया तो सो जायेगा। दोनों में थक गया तो चलेगा (चलने लगेगा)। चलते-चलते थक जायेगा तो आराम करेगा। लेकिन तीनोंमें से एक भी अवस्था में सुख नहीं है, इसका विचार कौन करता है ? जगत में उसका विचार कोई नहीं करता, इसलिए इसका Solution (उपाय) नहीं मिलता और Problem (समस्या) ज्यों का त्यों खड़ा रहता है।

वह 'Science & Religion' ('विज्ञान और धर्म') Article ('तत्त्वानुशीलन' में लेख) है न ! उसमें हमने एक बात लिखी है कि, जगत में किसी भी मनुष्य को रोग होता है और दवाई अस्तर नहीं करती है तो आदमी दवाई बदलता है। दवाई बदलने के बावजूद भी ठीक नहीं हो तो आदमी डाक्टर भी बदल देता है।

यहाँ ऐसा नहीं करता। यहाँ सुख नहीं मिलता है फिर भी सुख लेने का जो प्रकार है, जो विधि है, जो रीत है, वह रीत जीव बदलता नहीं है, कि मेरी (सुख प्राप्त करने की) रीत में ही कोई भूल चलती है, ऐसा विचार तक नहीं करता। वारंवार उसी रीत को लागू करता है। फिर से वही रीत को लागू करता है, वापिस तब भी उसे सुख नहीं मिलता है, फिर भी उसी प्रयत्न को चालू रखता है। इसमें विचारशीलता-बुद्धिमानी कहाँ की ?!

(यह) सोचना चाहिए कि मेरी गलती हो रही है, मेरी कहीं भूल हो रही है, मुझे सोचना चाहिए। (लेकिन) नहीं सोचता है। तीव्र बुद्धिशाली लोग भी नहीं सोचते हैं। यह एक Tragedy है संसार की। इसलिए जीव का - लोगों का संसार नहीं छूटता है, इसका यही कारण है। सही दिशा में कोई विचार नहीं करते। यह बात वहाँ (लेख में) उठाई है।

इसका एक कारण यह है कि, मैं भवरोग से ग्रसित हूँ, ऐसा भी Concept नहीं है। जैसे मनुष्यभव मिला तो बहुत अच्छा मिला, अब मनुष्यदेह को छोड़ना ही नहीं है। ऐसे ही विष्टा का कीड़ा हुआ तो उसको वहाँ अपना भव नहीं छोड़ना है !! जिस भव में जीव जन्म धारण करता है, वहाँ की उस दशा को, उस अवस्था को, उस हालत को, उस पर्याय को, वह छोड़ना नहीं चाहता। पर्यायबुद्धि इतनी (दृढ़) है। पर्याय की इतनी रुचि है। इतनी ही जीव को वर्तमान अवस्था की रुचि है। उसीको पर्यायदृष्टि कहते हैं - उसे अज्ञानदृष्टि कहते हैं। इसलिए उसे विचार ही नहीं आता। सुख का Problem solve (समस्या का समाधान) नहीं होता है और बार-बार दुःखी होता है, फिर भी, जीव सच्ची दिशा में विचार नहीं करता है।

ये तो जो-जो महात्मा सुखी हुए, जो-जो ज्ञानी सुखी हुए, जो-जो भगवंत सुखी हुए - उन भगवंतों की कही हुई बातें हैं। अगर मायिक सुख की सर्व प्रकार की वांछा - वांछा माने इच्छा, चाहे कभी भी छोड़े बिना छुटकारा नहीं है; यह सैद्धांतिक बात है तो फिर उसे छोड़ने के लिए यथार्थ समझ करके यथाक्रम अनुसार वांछा छोड़ने की बात करते हैं, पदार्थ तो भिन्न ही है। पदार्थ आत्मा में नहीं आता। कोई एक जीव में कोई एक परमाणु की मिलावट नहीं होती। चाहे कितना भी पानी पी ले फिर भी पानी का एक बिंदु आत्मा में नहीं आता। चाहे कितनी भी खुराक खा ले फिर भी खुराक का एक भी परमाणु जीव में नहीं आता। और चाहे जैसे अच्छे रंग-वर्ण देखने से आँख में कोई रंग नहीं आता (सिर्फ) प्रतिबिंब आता है। और कान से चाहे कितना भी संगीत सुन ले आत्मा में संगीत की सुरावली का प्रवेश नहीं होता। आत्मा को कुछ नहीं मिलता। नहीं मिलने के बावजूद भी मिलता है ऐसा Mis-concept - झूठा निश्चय-यह दुःख का कारण है।

जीव को दुःख क्यों उत्पन्न होता है ? इसके Causative factors कौन से हैं ? उसके क्या-क्या कारण हैं ? इसकी गहराई से जाँच होनी चाहिए। निदान अगर बराबर होगा तो उसका इलाज बराबर होगा। जीव को 'दुःख' नाम का रोग (हुआ) है। उसे मिटाने की यह बात है। तो उन्होंने (ज्ञानीपुरुषों ने) कहा कि, तू इस विषय की गहराई में जा !

वैसे तो डाक्टरी विज्ञान, वैद्यकीय विज्ञान, होमियोपैथी, आयुर्वेद-ये सब स्पष्ट कहते हैं कि, 'भोगे रोग भयं भर्तृहरी के श्लोक में (आता है)। पंचेन्द्रिय के विषयभूत जितने भोग-उपभोग हैं वे सारे रोग के कारण हैं। होमियोपैथी में तो यह नींव का सिद्धांत ही

है कि अगर आप रसपूर्वक भोजन करेंगे तो वही आपके रोग का कारण होगा। यह बात अध्यात्म से मिलती-जुलती है। यदि आप खाते वक्त रसपूर्वक खाएंगे कि मुझे बहुत भाता है, तो उसी वक्त अशातावेदनीय नाम का कर्मबंध होगा और उसका जब उदय आयेगा तब कोई न कोई रोग उत्पन्न होगा, होगा और होगा ही। (यानी) उसकी पीड़ा आपको भोगनी (ही) पड़ेगी, क्योंकि खाते वक्त रस लिया है इसलिए रोग के वक्त दुःख लगे बिना रहेगा नहीं। शरीर को आप तंदुरस्त रखना चाहते हो परंतु शरीर तंदुरस्त नहीं रहेगा। नहीं रहने का कारण भी आप खुद ही हो कि आपने रसपूर्वक जो खाया। अतः इस विषय का जो Science है - जो विज्ञान है, इससे अनभिज्ञ होने से, इस विषय में स्वयं अज्ञात होने से चाहे कैसे भी प्रवर्तता है और दुःखी होता है।

इसलिए ऐसा कहा कि जब से यह बात सुनी है तब से ही इच्छा का अभाव कैसे हो ? और आत्मा का जो मूल स्वरूप है - असल स्वरूप है, तात्त्विक स्वरूप है जो निरिच्छक स्वभाव है, वह कैसे प्रगट हो ? किस क्रम से उसमें आगे बढ़ा जाये ? अर्थात् योजनाबद्धरूप से-व्यवस्थितरूप से उसमें, उस दिशा में कैसे आगे बढ़ना, उसकी Practice - उसका अभ्यास करना चाहिए। और वैसा अभ्यास करना योग्य ही है ऐसा समझना। पहले ऐसे समझना फिर उसकी Practice करना। यह पहला वचन हुआ।

अब, वह मोक्ष का कारण भी है कि नहीं ? (यह समझें)। मायिक सुख को सच्चा सुख मानना यह बंध का कारण है, कर्मबंधन का कारण है। उसे सच्चा सुख मानने से इसके फल भोगने पड़ेंगे। (अब) वह सुख सच्चा नहीं है - ऐसा मानने से उस विषय का प्रतिबंध अटक जाएगा। सुख नहीं लगेगा तो आप मुक्त हो जायेंगे।

बात तो पूरी हो गई। प्रतिबंध नहीं रहेगा (यानी कि) वह चाहिए ही चाहिए, ऐसी बात नहीं रहेगी। उसके बिना नहीं चलेगा, यह बात नहीं रहेगी। क्योंकि (उसमें) सुख नहीं है। सुख तो नहीं अपितु वह दुःख का कारण है। ऐसे आपका ज्ञान काम करेगा। अतः उदासीनता आये बिना नहीं रहेगी।

मुमुक्षु :- लगना और अभिप्राय होना, उसे सीधा संबंध है ? यह जो लगना होता है, ऐसा जो मिथ्या अनुभव है - उसको और अभिप्राय को सीधा संबंध है ?

पूज्य भाईश्री :- उससे (लगने से) अभिप्राय बँधता है। Feeling है वह एक अनुभव है। और अनुभवज्ञान एक निश्चय पर आता है, जिसका नाम है अभिप्राय। अभिप्राय कोई विचार से घड़ते हैं तो कोई अनुभव से घड़ते हैं। अनुभव से जो घड़ता है वह इतना दृढ़ होता है कि छूटता नहीं। विचार से निश्चित किया हुआ अभिप्राय छूट जाता है। अनुभव से निश्चित हुआ अभिप्राय छूटता नहीं। फिर चाहे सुलटा हो या उलटा। दोनों में यह सिद्धांत लागू होता है। उलटा अभिप्राय विचारपूर्वक हो तो उसे भी छूटने में देर नहीं लगती। सुलटा अभिप्राय भी विचारपूर्वक हो तो उसे छूटने में देर नहीं लगती। जब कि दोनों में अगर अनुभव होता है तो उसमें दृढ़ता आ जाती है। फिर सुखाभास के कारण उलटा अभिप्राय हो तो उसे छोड़ना भी मुश्किल पड़ता है - छूटना मुश्किल है। और सही ज्ञान व सुलटे अनुभव सहित अभिप्राय हो तो वह Everlasting (कायम के लिए) रहता है। वह तो कभी नहीं छूटता ऐसा विषय है।

प्रश्न :- जिस भाव में आकुलता है वह भाव आकुलतारूप लगे वहाँ सुख का निश्चय होता ही नहीं है, ऐसा बनता है ?

समाधान :- हाँ, वहाँ सुख का अभिप्राय छूट जाएगा। सुख का अभिप्राय अनादि से है, आकुलित भावों में भी सुख का अभिप्राय अनादि से है। जीव का Mis-concept जो है वह अनादि से है। परंतु यदि उसमें आकुलता लगेगी तो वह अभिप्राय बदल जाएगा। इसलिए हमलोग लेते हैं न कि सभी विभाव में - विकल्पमात्र में दुःख लगना चाहिए। जब ज्ञानी के वचन में यह बात है कि विकल्पमात्र में दुःख लगना चाहिए, तब सर्व प्रथम ऐसा विचार आना चाहिए कि, मुझे तो ऐसा नहीं लगता है ! मुझे कुछएक विकल्प सुहाते हैं और (उनमें) सुख लगता है। किसी में तीव्र आकुलता होती है तब दुःख लगता है। जैसे कभी तीव्र क्रोध आया, कोई तीव्र उलझन में आ गये तब दुःख लगता है। (परंतु) ज्ञानी इसका स्वीकार नहीं करते, वे कहते हैं कि, विकल्पमात्र में दुःख लगना चाहिए। तब इस वचन के स्वीकार हेतु अपने प्रत्येक विकल्प का अवलोकन शुरू होना चाहिए। यहाँ मेरी कैसे भूल हो रही है ? यह मेरी अनुभव की भूल है। विकल्प में मुझे जो सुख लगता है, जो भी विकल्प में (सुख लगता है) वह मेरी अनुभव की भूल है। यह अनुभव की भूल जब तक नहीं निकलेगी तब तक सुखबुद्धि नहीं मिटेगी, ऐसा है।

मुमुक्षु :- इसका उपाय तो यही है कि भीतर में जाँच करें।

पूज्य भाईश्री :- अवलोकन के Stage (भूमिका) तक आना चाहिए। जब कि सीधा कोई अवलोकन के Stage तक आ नहीं सकता, तब उलझन पैदा होगी। वह उलझन यदि वेदना को ले आये तब तो उसे सच्ची माने, वेदना को नहीं ले आये तो झूठी है। ऊपर-ऊपर से होनेवाली उलझन (वेदना को नहीं लाती) - ऐसा है।

प्रश्न :- भाईश्री ! अनुभव की भूल से जो अभिप्राय बना हुआ

है, अनुभव से जो दृढ़ निश्चय हुआ उससे उलटा अभिप्राय तो बन गया, अब उसे मिटाने में विचार तो निष्फल गया तो फिर अनुभव से Check (जाँच) करके ही उसे तोड़ सकेगा न ?

समाधान :- अनुभव की जाँच करने पर ही मिटेगा, इसके बिना मिटेगा नहीं। अब होता है क्या ? कि जिस अनुभव में रस आता हो तब जाँच करनेवाला ज्ञान तो रहता नहीं। उसमें तो आप के Mis-concept के कारण रस आ गया। फिर उस वक्त आपका ज्ञान जाँच करने का कार्य तो कर पायेगा नहीं। अब आप क्या करेंगे ? आपने समझ तो लिया कि अनुभव की भूल अनुभव की जाँच करने से छूटेगी। परंतु जब अनुभव की जाँच करने का प्रसंग आयेगा उसी वक्त आप जाँच नहीं कर सकेंगे - ऐसी स्थिति में होंगे, तब क्या होगा ? आपको रस आया फिर तो आप जाँच करने की स्थिति में होंगे नहीं, आप करेंगे क्या ? उस भूल को कैसे मिटाओगे ? उस भूल को मिटाने की आपकी परिस्थिति तो है नहीं ! समझ लो चाहे कितना भी, समझना एक बात है, काम करना दूसरी बात है। इसलिए इसकी पूरी योजना बनायी है। उस योजनाबद्धरूप से - व्यवस्थितरूप से काम करोगे, तो काम का उकेल आयेगा। 'उभांगड़े' काम करोगे, तो काम कभी सफल नहीं होगा।

'उभांगड़े' समझ में आता है ? नहीं समझते ? गुजराती भाषा थोड़ी ऐसी आती है। माने Hafazard - (यानी कि) आप कोई Management की जो पद्धति है उससे अपने काम को Manage (नियंत्रित) करो तो काम सफल होता है। Without management - Hafazard जैसे-(तैसे) कोई भी काम कर लिया - कोई व्यवस्था बिना ली - (तो) कैसे काम सफल होगा ? काम तो काम की रीत से होगा।

जैसे Account है। अब कोई आदमी ऐसा है जिसको Account का System (रीत) मालूम नहीं है। वह Account लिखने बैठेगा तो उसकी दिक्कत बढ़ जाएगी। कोई Account की व्यवस्था तो नहीं बैठेगी लेकिन वह इतनी उलझन में आ जाएगा कि उसे निकलने में तकलीफ हो जाएगी।

हमारे साथ एक बार ऐसा हुआ था। मंदिर में प्रतिष्ठा पूरी होने के पश्चात् एक भाई ने कहा कि, लाईये ! सब मुझे दे दो। मैं Account तैयार कर दूँ। उसको Account आता नहीं था। इतना घोटाला किया कि खुद उलझन में आ गया। (कहने लगा कि) इसमें मुझे कुछ सूझता नहीं है। हमने उसको कहा, आपको Account आता नहीं है, यह आपके बस का काम नहीं है। इसमें बहुत सारी चीज़ - वस्तुओं की खरीद की हो इसलिए ढेर सारे बिल इकट्ठे होते हैं। ढेर सारे (बिल होते हैं)। इसमें कोई बिल Unpaid (बिना चुकाया) हो, कोई Paid हो, कोई Semi-paid (आधा चुकाया - आधा बाकी) हो, ऐसे में यदि Account की व्यवस्था मालूम न हो तो तीनों को कैसे व्यवस्थित करना, यह समझ में ही नहीं आयेगा, कुछ कर नहीं पाएगा, उलटा उलझन में आ जाएगा। उलझेगा तो ऐसा कि उसने किया होगा उसमें तो कोई बात काम नहीं आएगी, जिसको Account आता होगा उसको तो पहले से वापिस शुरू करना पड़ेगा। क्योंकि उसने तो सब उलट-सुलट कर दिया होगा। सूत में जैसे गुथी हो जाती है, ऐसा होगा। दिक्कत बढ़ जाएगी। सूत की डोरी को खोलना नहीं आता हो, और गुथी हो जाये तो बाद में तो दिक्कत और भी बढ़ जाती है। वैसी बात है। समझ का विषय ऐसा है।

यदि आपकी समझ व्यवस्थित नहीं होगी तो आप और भी

दिक्कत में आ जाओगे। अव्यवस्थित समझ के कारण (ऐसा होगा)। इसलिए यहाँ ऐसा कहा कि 'क्रम का अभ्यास करना।' ऐसे ही वस्तु का त्याग नहीं करना है। यूँ ही छोड़ देने की बात नहीं है।

एक दृष्टांत लेते हैं। एक आदमी को मिठाई बहुत भाती है। अब उसने सुना कि मिठाई नहीं खानी चाहिए (क्योंकि रस आ जाता है)। और रस का तो त्याग करना चाहिए। मुझे जो रस आता है उसे छोड़ देना चाहिए। अब (उसने मिठाई) छोड़ दी। जब कि खाने का रस और अभिप्राय तो यूँ का यूँ ही है, और वृत्ति का दमन कर लिया, परंतु इससे कोई फायदा नहीं होता। वह दबी हुई वृत्ति कभी भी उछल पड़ेगी। रोग को यदि मूल से नहीं मिटाया (और) सिर्फ ऊपर-ऊपर से पट्टी बाँध दी तो भीतर में तो खराबी भरी ही है। दूसरी जगह गड़बड़ी होगी, ऐसी बात है।

प्रश्न :- यह जो दृष्टांत दिया, अगर त्याग नहीं करना है तो समझ कैसी होनी चाहिए ?

समाधान :- रस का त्याग होना चाहिए। रस कैसे टूटे ? इसकी समझ करके उसका प्रयोग करना चाहिए। पहले रस तोड़ने का प्रयत्न करना चाहिए, वस्तु के त्याग का नहीं। वस्तु का त्याग करने से रस नहीं टूटता। रस कैसे टूटे ? उदासीनता कैसे आये ? उसका क्रम क्या ? इसकी समझ क्या ? पहले उस दिशा में जाना चाहिए। उस प्रकार का प्रयत्न होना चाहिए, ऐसा (कहना चाहते हैं)। और इसके लिए तो हमने क्रम बिठाया है। पहले परिभ्रमण की वेदना में आईये, तो उदासीनता में स्वतः आयेंगे। वहाँ से सभी रस टूटने शुरू होते हैं। इसके बिना यथार्थरूप से उदासीनता नहीं आयेगी। यथार्थ प्रकार से अगर उदासीनता नहीं आयी तो कोई रस फ्रीके नहीं होंगे। सारे के सारे यूँ ही रहेंगे। भले चाहे

कितना भी त्याग कर ले (इससे कोई रस नहीं टूटेगा)।

प्रश्न :- उस रस में परिभ्रमण दिखना चाहिए ?

समाधान :- हाँ, परिभ्रमण दिखना चाहिए। एक मृत्यु को आप नहीं चाहते, आपकी मृत्यु तो नहीं - आपके प्रियजन की मृत्यु भी आप नहीं चाहते हो, तो आपकी अपनी मृत्यु को तो कैसे चाहोगे ? तो ऐसे अनंत जन्म-मरण की तलवार सर पर लटक रही है, इस Problem की चिंता आपको क्यों नहीं होती है ? यहाँ से (इस चिंता से) शुरुआत होनी चाहिए। जब तक अनंत जन्म-मरण व परिभ्रमण में होनेवाले चार गति के दुःखों की चिंता नहीं होगी तब तक यथार्थ उदासीनतापूर्वक कोई भी रसवृत्ति में फ्रीकापना - न्यूनता नहीं आयेगी। रस के अभाव की बात तो अभी दूर है, परंतु पहले फ्रीका तो पड़े ! वहाँ से शुरुआत इसलिए ली है।

दूसरा वचनामृत २. 'किसी भी प्रकार से सद्गुरु की शोध करे,...' अब इसमें क्या कहते हैं ? कि यह विषय अनजाना है। कौन-सा (विषय) ? आत्मा को संसार के सभी प्रकार के दुःखों से मुक्त करने का जो उपाय है, इससे खुद तो अनभिज्ञ है। क्या ? उसका उपाय जो जानते हैं उनका नाम - सद्गुरु। सद्गुरु का मतलब संप्रदाय में साधु होते हैं उन्हें सद्गुरु नहीं कहते। फिर चाहे जैन संप्रदाय में हो या किसी भी संप्रदाय में हो, उसमें जो साधु बन जाते हैं, वे सब गुरु के स्थान में होते हैं, परंतु यहाँ उसे 'गुरु' के रूप में स्वीकार करने की बात नहीं है।

यहाँ तो सद्गुरु उसीको कहते हैं कि जो स्वयं जन्म-मरण से मुक्त होने की - मुक्ति के मार्ग के विषय में अनुभवी हो - जिन्हें अनुभवज्ञान हो, उनको यहाँ सद्गुरु कहा गया है। 'आत्मज्ञान त्यां मुनिपणुं, ते साचा गुरु जोय, बाकी कुलगुरु कल्पना...' उसमें

गुरु की कल्पना है 'बाकी कुलगुरु कल्पना' (यानी कि) जिस कुल में मनुष्य का जन्म हुआ हो, उसके कुल में उसके संप्रदाय के गुरु तो होते ही हैं। 'बाकी कुलगुरु कल्पना, आत्मार्थी नहीं जोय' - उसमें तो कोई आत्मार्थी भी नहीं होता ! ऐसा कहते हैं। आत्मार्थी का मतलब मुमुक्षु भी नहीं होते। गुरु की बात तो दूर रही।

अतः यहाँ ऐसा कहते हैं कि, किसी आत्मज्ञानी ऐसे सदगुरु की शोध करना। '**...शोध करके...**' मिल जाये तो; यद्यपि जिसको सच्ची इच्छा होती है और जिसकी सही खोज होती है उसे तो मिल ही जाते हैं। वरना होने पर भी पता नहीं चलता। पड़ोस में रहते हो तो भी पता नहीं चलता ! घर में हो तो भी पता नहीं चलता !! घर में तो प्रायः पता चलता ही नहीं, ऐसी परिस्थिति होती है।

यहाँ तो जिसे जन्म-मरण से मुक्त होना है, सारे दुःखों से मुक्त होना है ऐसा जीव शोध करने निकला है, जिसको दरकार आयी है उसकी बात है। '**शोध करके उसके प्रति तन, मन, वचन और आत्मा से अर्पणबुद्धि करे;...**' यद्यपि सदगुरु को कोई अपेक्षा नहीं है, यह समझ लेना। (ऐसा) लिखा है तो किसी प्रकार की अपेक्षा से लिखा है, ऐसे मत लेना। यह तो जिसे सदगुरु मिले और पहचान हो उसकी स्थिति क्या होती है ? उसकी दशा कैसी होती है ? वह बात आज्ञार्थ वचन में की है। वैसे तो सहज स्थिति ही ऐसी है कि उनके प्रति '**...तन, मन, वचन और आत्मा से अर्पणबुद्धि करे;...**' अर्पणबुद्धि मतलब अभिप्राय की अर्पणता। ऐसा नहीं कि दे दें। दृष्टान्तरूप से (इस बात का) पता चला कि चलो ! मुझे सब दे देना है, मेरी पूँजी आप ले लो। ऐसा कहना नहीं चाहते। परंतु अभिप्राय में ऐसा है, अभिप्राय में पूरी-पूरी अर्पणता है। बाहर में

क्रिया होने, नहीं होने का प्रश्न नहीं है। (यद्यपि) यह बात सरलता से लेनी है, असरलता से नहीं (अर्थात्) ऐसे नहीं कि हमारा (देने का) अभिप्राय तो है, (लेकिन) हमारी देने की क्रिया नहीं भी हो !! किन्तु अभिप्राय तो है, ऐसे नहीं।

मुमुक्षु :- अभिप्राय ठीक है कि नहीं इसका भेद कैसे छाँटना ?

पूज्य भाईश्री :- खुद के अंदर चलते हुए अहोभाव पर से पता तो चले न ! अहोभाव के वेदन पर से पता चलता है। अभिप्राय Feeling stage (वेदन)में से आता है या यूँ ही आता है ? ऐसी Feeling (अहोभाव) चलती है। अतः जब देने की बारी आये तब पीछे नहीं हटता। तब तो पता चल ही जाता है।

मुमुक्षु :- गिनती नहीं होती।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, ठीक बात है। यह एक अच्छा चिह्न है। वह गिनती नहीं करता। सर्वार्पणबुद्धि में क्या हुआ ? कि भेदबुद्धि छूट गई। अभिन्नभाव उत्पन्न हुआ कि नहीं ? उसको अंदर गिनती नहीं चलेगी कि मैंने इतना किया, मैंने इतना दिया, ऐसा हुआ - ऐसी गिनती नहीं होगी। जहाँ गिनती होती है वहाँ भेदभाव व भिन्नबुद्धि हो जाती है। घर में किसी से भिन्नभाव आता है ? नहीं आता है न ? कोई 'माँ' ऐसी गिनती करेगी कि मैंने अपने बेटे को दस साल बड़ा किया या पचीस साल बड़ा किया इसमें रोज़ की चार रोटी Average (औसत से) गिने तो कितनी रोटी खिलाई ? कोई 'माँ' ऐसे गिनेगी ? 'माँ' के स्थान में तो कोई नहीं गिनता क्योंकि 'मेरा बेटा' - इसमें अभिन्नता है, 'मेरापना' में अभिन्नता है। जहाँ 'अपनत्व' है वहाँ अभिन्नता है। मेहमान आये हो, रोटी खाते हो तो उसकी गिनते हैं कि, यह तो बहुत कम खाते हैं, दो ही रोटी खायी ! कोई सात या बारह खाता हो तो अरे...! देखो तो सही !

१२-१२ रोटी खा गये ! वहाँ तुरंत गिनती हो जाएगी। जब कि खुद का लड़का १२ रोटी खाता हो तो ! इसमें क्या हुआ ? बाद में भी पूछेंगे - एक चले तो ले ले ! जवान है तो खायेगा ही ! और खायेगा तभी तो ताकत आयेगी न ! ठीक है, (इतनी) तो खानी ही चाहिए ! वहाँ कुछ नहीं देखेंगे। ममत्व होता है वहाँ कुछ नहीं दिखता। दिखता है ? नहीं दिखता। परायापन हो वहीं पर सब (भेद) दिखते हैं।

वैसे, यहाँ आत्मा से अर्पणबुद्धि करना। तन, मन, वचन, यह तो सब आ गया, (लेकिन) आत्मा से अर्पणबुद्धि करना ऐसा (कहते हैं)।

मुमुक्षु :- जो कुटुंबीजनों के प्रति (लगाव) है, वह आत्मा से अर्पणबुद्धि है।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, जहाँ आत्मीयता होती है वहाँ (फिर) छूट जाएगी। तभी (सत्पुरुष के प्रति) आत्मा से अर्पणबुद्धि होगी, ऐसी बात है। और प्रकृति भी मिट जाएगी। क्यों ? (क्योंकि) अज्ञानदशा में प्रकृति ही आत्मा है। जीव प्राण छोड़ने को तैयार है (लेकिन) प्रकृति छोड़ने को तैयार नहीं है। (इसलिए) जिसको ज्ञानी के प्रति सर्वार्पणबुद्धि आती है उसका प्रकृतिदोष छूट जाता है। अपने गुजराती में तो कहावत है कि 'प्राण अने प्रकृति साथे जाय' - परंतु यह संसारियों को, अज्ञानियों को (लागू पड़ता है)। (यहाँ तो जो) ज्ञानी के मार्ग पर चढ़ा है, उसे तो जैसे ही सत्पुरुष के प्रति समर्पणबुद्धि आयेगी कि पहले ही कदम पर उसकी प्रकृति में फ़र्क पड़ जाता है। अगर प्रकृति में फ़र्क नहीं पड़ा तो समझना कि अभी (ज्ञानी के प्रति) समर्पण नहीं आया।

अगर प्रकृति में फ़र्क नहीं होता है तो समझ लेना कि अभी

हमारी अर्पणता नहीं हुई। आत्मा से अर्पणता नहीं हुई है। तन-मन तो ठीक है, कोई सेवा कर देता है, कोई दान दे देता है, इसमें कोई बड़ी बात नहीं है। वह तो मुसलमान भी अपने संप्रदाय में करता है ! वह भी करोड़ों का मकबरा बनाता है। उसमें कुछ दम नहीं है। अर्पणता अलग बात है। अभिन्नबुद्धि का नाम अर्पणता - अर्पणबुद्धि है !!

(अब कहते हैं) '...उसी की आज्ञा का सर्वथा निःशंकता से आराधन करे, और तभी सर्व मायिक वासना का अभाव होगा, ऐसा समझें।' (अर्थात्) जो मायिक सुख में झुका हुआ है वह सत्पुरुष के प्रति झुक नहीं सकता। जो गुरु के प्रति झुकता है (उसका) मायिक सुख का झुकाव छूट जाएगा। सीधी बात है। थोड़ा विशेष विचार करने लायक है। कल के स्वाध्याय में फिर से लेंगे। समय हुआ है।



निज अवलोकनमें रागका और पर्यायका लक्ष छुड़ानेका हेतु है। इसके अलावा एकांत परकी ओर चल रहे झुकावके प्रवाहको बदलकर स्वकी ओर झुकाव हो वैसा हेतु है। परलक्षी ज्ञान द्वारा मात्र तर्क - युक्तिसे अनुभवमें आ रहे भावोंका - भावभासन नहीं हो सकता, अतः वैसी अभ्यासकी अयोग्य पद्धतिको बदलकर, भावभासन होवे, ऐसा इसमें खास हेतु है। स्वभावके भावभासनसे स्वभावका लक्ष होने पर, राग व पर्यायका लक्ष सहज छूट जाता है। यथार्थरूपसे अवलोकन होनेका फल पर्यायबुद्धि छूट जाये, ऐसा आता है, क्योंकि यह अनुभवपद्धति है। पर्यायबुद्धिमें दीनता आती है।

(पूज्य भाईश्री - अनुभव संजीवनी-१९८४)

प्रवचन - ३ दि. २५-७-१९९८ - पत्रांक-१६६ (३)

श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत - १६६ वाँ पत्र चलता है। उसमें दूसरा वचनामृत कल चलता था। 'किसी भी प्रकार से सद्गुरु की शोध करे,...' उपदेशात्मक भाषा में ऐसा कहा जाता है कि सद्गुरु की शोध करे। न करता हो उसे (ऐसा कहते हैं)। वास्तविकता तो ऐसी है (कि) किसी भी जीव को जब पहली बार ही पता चले कि आत्मज्ञान एक ऐसा ज्ञान है - आत्मसाक्षात्कार एक ऐसा ज्ञान है कि अगर जीव को ऐसा आत्मज्ञान या आत्मसाक्षात्कार हो जाये तो उसके जन्म-मरण के फेरे मिट जाये। चौरासी लाख योनी में जीव जन्मता है और मरता है, जन्मता है और मरता है। वह सारे दुःख की परंपरा, पूरा सिलसिला बंद हो जाये, ऐसा आत्मज्ञान प्राप्त करने की बेहतरीन शक्यता इस मनुष्यभव में है, बहुत अच्छा मौका है।

उसमें First thought - प्रथम विचार क्या आयेगा ? कि, मैं इस विषय में बिलकुल अनजान हूँ, मुझे कुछ पता नहीं है, अतः जिसे ऐसा आत्मज्ञान हुआ हो - जिसे प्राप्त हुआ हो उसके पास जाकर यह जान (लेना चाहिए) - समझ लेना चाहिए। यथार्थता में तो सर्व प्रथम ऐसा विचार आये बिना नहीं रहता। यथार्थता में प्रथम ही (यह) विचार आता है। संस्कारी जीव हो तो भी। पूर्व के संस्कार लेकर आया हो परंतु खुद को तो पता नहीं है कि मैं संस्कार लेकर आया (हूँ)। परंतु संस्कारवश उसको यह विचार

आता है कि मुझे आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहिए। यह विचार संस्कारवश ही आया है। ऐसा ऊहापोह भीतर संस्कारमें से ही उत्पन्न होता है। परंतु वर्तमान में खुद अनभिज्ञ है, यह बात नक्की है। प्रथम विचार यही आयेगा कि इसके ज्ञाता कौन हैं ? इसके अलावा इसमें दूसरा कोई उपाय नहीं है। अतः उसे प्रथम ही सद्गुरु की शोध करने का विचार आये बिना रहता नहीं। यह वास्तविकता है। इस वास्तविकता को (यहाँ) उपदेश की भाषा में समझाते हैं।

‘किसी भी प्रकार से सद्गुरु की शोध करे,...’ ‘किसी भी प्रकार से...’ यह कहाँ से आया ? कि ऐसा ही भाव आयेगा कि किसी भी प्रकार से मुझे ऐसे सद्गुरु चाहिए। ऐसे आत्मज्ञानी पुरुष के बिना इस मामले में एक कदम भी हम आगे बढ़ सके, ऐसी परिस्थिति नहीं है। और खुद की होशियारी दिखाने में किसी दूसरे रास्ते पर चढ़ गये तो और भी दिक्कत बढ़ जायेगी। सूत जैसे गुथ जाता है... वैसे ज्ञानरूपी सूत गुथ जाता है। अतः पुस्तक पढ़कर ज्ञान कर लूँगा, ऐसा विचार सरलतामें से तो नहीं आता। ऐसा विचार असरलतामें से आता है। या ज्यादा कड़क भाषा में कहे तो वह Out of common sense है ! (सामान्य बुद्धि से भी बाहर है,) वह कैसे ?

अपने समाज में एक सामान्य बुद्धि का आदमी - अहीर जो होता है जो भेड़-बकरें चरानेवाला होता है। जिसमें ज्यादा बुद्धि नहीं होती, ज्यादा पढ़ा-लिखा भी न हो। हररोज़ ढोर के साथ रह-रहकर जिसकी बुद्धि मोटी हो चुकी हो, उसको भी जब रोग होता है, पीड़ा होती है तब क्या वह Medical books (तबीबी विज्ञान की पुस्तकें) खरीदने जाएगा ? कि पहले मैं पढ़ लूँ फिर वैद्यकिय पुस्तकें पढ़ लूँ, ऐसा विचार उसे आयेगा ? Common sense में

तो ऐसा विचार नहीं आता, मेरा तो यह कहना है। Common sense में तो ऐसा ही विचार आयेगा कि, किसी वैद्य-डॉक्टर के पास मुझे जाना होगा कि, मुझे यह क्या हो रहा है ? मुझे क्यों ऐसा होता है ? मुझे यह जुलाब लग गया तो क्यों लग गया ? मैं तो हररोज़ छाछ और रोटी खाता हूँ, आज ही क्यों जुलाब लग गया ? खुद को तो कुछ पता नहीं है कि क्या कारण है ? क्योंकि वह विषय डाक्टर का है। तो इसका मतलब सामान्यबुद्धि में भी इतना तो समझ में आता है कि, मुझे डाक्टर के पास जाना चाहिए। (अब) हमलोग तो जैसे चतुर से चतुर लोग माने जाते हैं, व्यापार - धंधा बुद्धि से करनेवाले तो चतुर ही गिने जाते हैं न ? संसार की तो सारी चतुराई है ही !

एक बेटे की सगाई करनी हो तो अगले की बेटि की कितनी परीक्षा करना ? और कितनी जाँच करना ? (वह सब चतुराईपूर्वक करते हैं)। फिर भले ही वहाँ निष्फल भी जायें, लेकिन चतुराई कितनी दिखलाते हैं !! देखो भाई ! मैं मेरे मामा से पूछ लूँ ! बड़े भाई को पूछ लूँ ! इसमें तो हमें सब की सलाह लेनी पड़ेगी वरना उसको बुरा लग जाएगा ! जब कि ये सब बहाने इसकी चतुराई के हैं। भले ही करता तो हो खुद की इच्छानुसार, खुद को ठीक लगे वही करना हो, फिर भी मैं इसको पूछ लूँ, उसको पूछ लूँ, ऐसे-ऐसे कई छिटकने के रास्ते उसके सामने खुले रखेगा !! जीव को ऐसी सब चतुराई संसार में बराबर आती है। यहाँ (धर्म के क्षेत्र में) होशियारी करने जाता है - मैं अपने आप कर लूँगा। पुस्तक पढ़कर कर लूँगा - ऐसे कभी नहीं होगा। और नहीं होगा उसका कारण है क्योंकि आत्मज्ञान है वह Practical knowledge (अनुभवज्ञान) का विषय है। ज्ञान के दो प्रकार हैं। Theoretical

knowledge (परिभाषा का ज्ञान) और दूसरा Practical knowledge (अनुभव ज्ञान)। पुस्तक में Theoretical knowledge है। Practical knowledge पुस्तक में नहीं आता। अतः काम का जो बड़ा विभाग है, इस कार्य का जो महत्वपूर्ण बड़ा हिस्सा है वह तो पुस्तक में Absent (गैरहाज़िर) है। तो पुस्तक पढ़-पढ़कर आदमी कैसे आत्मज्ञान कर पाएगा ? कोई शक्यता ही नहीं है।

इतना ही नहीं, एक के बजाय कुछ दूसरा समझ लेगा तो पुस्तक उसे नहीं कहेगी कि, यहाँ तेरी समझने में भूल हुई। एक शब्द के बीस अर्थ होते हों। अब कहाँ कौन-सा अर्थ करना यह पुस्तक तो कहेगी नहीं ! उस विषय के तजज्ञ के अलावा वह बात कैसे उसे कोई समझाएगा ? कि, यहाँ ऐसा नहीं कहना चाहते परंतु यहाँ ऐसा कहना चाहते हैं। हरएक बात करने के पीछे कोई न कोई अभिप्राय होता है। और यह अभिप्राय हरएक बात के साथ-साथ कह सके ऐसी कोई परिस्थिति तो होती नहीं है। फिर कौन-सी बात किस अभिप्राय से कही गई है यह पढ़नेवाले को पता न चले तो अभिप्राय की भूल हो जायेगी। इसमें और भी कितने-कितने पहलू हैं। भूल होने के बहुत Chances (सँभावनाएँ) हैं। अतः इसमें Practical knowledge में प्रत्यक्ष ज्ञानी का योग अनिवार्य है।

हमने 'निर्घात दर्शन की पगडंडी' (पुस्तक में) दूसरा प्रकरण (ज्ञानीपुरुष की) आवश्यकता पर ही लिखा है। 'मुमुक्षु की भूमिका में ज्ञानी के प्रत्यक्ष योग का महत्व' ऐसा लंबा-लंबा नाम उस प्रकरण को दिया है। फिर उसका महत्व किस प्रकार है, उस विषय पर तीस पत्रों में चर्चा की है। इसका संक्षेप में (सार) यहाँ कृपालुदेव एक वचन में देते हैं।

'किसी भी प्रकार से सद्गुरु की शोध करे, शोध करके उसके

प्रति तन, मन, वचन और आत्मा से अर्पणबुद्धि करे;...' यानी कि अभिप्राय ऐसा होना चाहिए कि मुझे शरीर से सेवा देनी पड़े तो मेरे शरीर की शाता-अशाता या मेरे शरीर की कोई भी अनुकूलता - प्रतिकूलता, सब में भोग देने के लिए तैयार हूँ, अगर मुझे सत्संग मिलता है तो।

'मन' में बुद्धि (लेना)। बुद्धि अर्पण कर देना कि जैसे मैं कुछ नहीं समझता हूँ, मैं अनजाना हूँ, (आप) जैसे कहोगे वैसे (मुझे चलना है)। मेरे मन अनुसार मुझे नहीं चलना है। मुझे इच्छा हो वैसे मुझे नहीं करना है। वैसे देखे तो सत्संग में आने की कोई फ़ीस नहीं है। ठीक है ? परंतु ऐसी बात चले तब लगता है जैसे सब अपने से ले लिया !! तन, मन, वचन और आत्मा - सब अपने से लेने पर दस्तखत करवा लिया ! वैसा है।

मुमुक्षु :- भाईश्री ! समझ में नहीं आया।

पूज्य भाईश्री :- ऐसे आपको यहाँ सत्संग में आने के लिए कोई Charge तो नहीं रखा गया। Tution charge जैसे लगता है वैसे कोई ज्ञानी Charge तो रखते नहीं कि, भाई ! एक घंटा बैठने का सौ-पचास देना पड़ेगा या ऐसा है Monthly (मासिक) देना पड़ेगा। या Yearly (देना पड़ेगा)। कोई माँगते तो नहीं। फिर भी (मुमुक्षु को) अर्पणबुद्धि इतनी आती है कि, तन, मन, वचन, आत्मा - सब कुछ अर्पण करने की बुद्धि आ जाती है। तो उपदेश में ऐसा बोलने में आता है कि, 'ऐसी बुद्धि करनी, करनी चाहिए।' तो इसका मतलब (यह हुआ) कि, ये सब माँग लिया ! माँगने का सवाल नहीं है। वास्तविकता में (मुमुक्षु को) ऐसे भाव आते हैं। वास्तविकता में ऐसे भाव आते हैं कि, मैं मन से, वचन से, तन से, आत्मा से समर्पित हूँ। फिर जैसा प्रसंग बनता है (वैसा) अभिन्नभाव से समर्पण

हो ही जाता है। क्योंकि अभिप्राय तो पहले बन चुका है। (फिर जब) कोई ऐसा प्रसंग बनता है तो ऐसा समर्पण हो भी जाता है, ऐसी बात है। तो उपदेश में ऐसा कहने में आता है कि, ऐसा करना चाहिए। बाकी (तो) ऐसा होता ही है।

क्यों ऐसा होता है ? क्योंकि तन, मन, वचन और आत्मा में तो सर्वस्व आ गया, कोई चीज़ बाकी नहीं रही तो यह सर्वार्पणबुद्धि क्यों ? इसके पीछे कौन-सा Calculation (गिनती) है ? हिसाब-किताब क्या है इस बात का ? वह ऐसा है कि यदि आत्मा को आत्मज्ञान प्राप्त हो तो उसके अनंत जन्म-मरण व संसार के सर्व प्रकार के दुःखों का नाश हो जाये, तो इसमें वह कितने बड़े नुकसान से बचा ? अनंतानंत !! दूसरा यह कि, वहाँ से लेकर आगे के सभी समय के लिए - भविष्य के सर्वकाल के लिए सुख-शांति व आनंद, अनंत सुख-शांति और आनंद प्राप्त हो जाएगा। तो कितना बड़ा लाभ हुआ ? अनंतानंत ! अनंत नुकसान से बचा और अनंत लाभ हुआ, फिर इसके लिए सर्वस्व समर्पण की बुद्धि आये तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। सहज ऐसा ही होगा, स्वाभाविकरूप से ऐसा ही होगा।

मुमुक्षु :- कहने से नहीं आती, सहज आ जाती है।

पूज्य भाईश्री :- सहज आ जाती है। सही समझ हो तो ऐसा हो ही जाता है। ऐसा कहने का मतलब है। आप सोना खरीदने जाते हो तो सौ-पचास रुपये लेकर जाते हो क्या ? सौ-पचास रुपये लेकर सब्जी-तरकारी लेने Market में जाये तो ठीक बात है कि चलो ! किलो-दो किलो सब्जी लेकर आ जायेंगे। लेकिन किलो-दो किलो सोना या हीरा लेने जाना हो तो ? कितना बड़ा Amount चाहिए ? तो हमको जैसा माल, जितना माल चाहिए उतने

पैमाने में पैसा देना पड़ता है, कीमत देनी पड़ती है कि नहीं ? तो (यहाँ) इतना हमको लाभ होता है तो इसके प्रमाण में अपने को देनेका भाव आयेगा या कम देने का भाव आयेगा ? लाभ तो भले ही अनंत होवे लेकिन हमको तो कम ही देना है। कम मतलब क्या ? कि, हमारे संसार की पूरी व्यवस्था सलामत रहे, हमको भविष्य में कोई आपत्ति नहीं हो, बाकी बचे तो देना है और नहीं बचे तो हम कहाँ से दें ? हमारे पास देने के लिए है भी नहीं ! फालतू में हमारे परिणाम बिगड़ जायेंगे ! हम ऐसा क्यों करें ? अरे...! बिगड़ जायेंगे क्या, अभी बिगड़े हुए ही हैं !! ऐसे अभिप्राय में तुम्हारे परिणाम तो पहले से ही बिगड़े हुए हैं। बिगड़ने का सवाल कहाँ बाकी रहता है ? वे तो बिगड़े हुए ही हैं।

वहाँ तो पहले से ही इतने परिणाम बिगड़ चुके हैं कि, सुधरने का अवकाश आना ही मुश्किल है। सुधरने की जगह ही नहीं रहेगी। अब समझो कि वास्तव में हमारी आर्थिक परिस्थिति कमजोर है, भले दूसरों की नहीं होगी, लेकिन मानो हमारी ऐसी हो, फिर कैसे परिणाम रहने चाहिए ? तो (जैसे) हम पेट भरते हैं कि नहीं भरते हैं ? किसके लिए भरते हैं ? शरीर के लिए। अगर पेट में नहीं (डालेंगे) तो शरीर कैसे चलेगा ? सीधी बात है, जब हम पेट भरने के लिए पाप करते हैं कि नहीं करते ? क्या करते हैं ? बाज़ार में जाकर पुण्य करते हैं क्या ? दुकान, कारखाना, नौकरी - सब पाप ही पाप है। संसार की कोई व्यावसायिक प्रवृत्ति में पुण्य नहीं होता। एकांत पाप होता है। क्या ? (यह) One way traffic है - एकांत पाप होता है। जब हम पेट भरने के लिए पाप करते हैं तो हम पेट भरने के लिए जितने पैसे कमाते हैं, उसमें से कुछ खींचकर - निकालकर थोड़ा पुण्य क्यों नहीं करें ?

आत्मा के लिए क्यों नहीं करें ? पुण्य के लिए नहीं परंतु आत्मा के लिए क्यों नहीं करें ?

यह जो सन्मार्ग है, इसके लिए तो ऐसा ही परिणाम आना चाहिए कि, खिचड़ी थोड़ी कम खायेंगे। क्या ? मालपूआ और मेसुब नहीं खाना है, खिचड़ी थोड़ी कम खायेंगे लेकिन वह पैसा बचाकर के हम सन्मार्ग में तो देंगे, देंगे और देंगे ही। ऐसा अभिप्राय होना चाहिए। फिर जितना बने उतना, परिस्थिति अनुसार बनता है। लेकिन अभिप्राय में यह बात होनी ही चाहिए। ऐसी बात है। यह बात रही समर्पण की।

(अब आगे कहते हैं) **'...उसी की आज्ञा का सर्वथा निःशंकतासे आराधन करे,...**' 'सर्वथा निःशंकता' का अर्थ ऐसा है कि कभी कोई बात बुद्धि में नहीं बैठे ऐसी लगे तो भी आज्ञा माने आज्ञा !

मुमुक्षु :- इसका Balance कैसे रखना ?

पूज्य भाईश्री :- बुद्धिमान को थोड़ी तकलीफ पड़ती है। उसमें भी जिसकी प्रकृति ज्यादा Argument करने की है, उसको बहुत तकलीफ पड़ती है। आया समझ में ? उसमें क्या है कि, एक अभिप्राय बना लेना कि, मुझे आज्ञाधीन रहना है।

एक १४७ नंबर का पत्र है देखो ! कृपालुदेव के क्या शब्द हैं ? १४७ पत्र लिखा है, खीमजीभाई के प्रति। **'आज्ञा के प्रति अनुग्रहदर्शक संतोषप्रद पत्र मिला।'** उन्होंने क्या लिखा होगा कि, आपकी आज्ञा में मैं रहूँ, आपकी आज्ञा में मेरी वृत्ति बनी रहे, ऐसी मुझ पर कृपा कीजिए कि मैं आज्ञा से बाहर न जाऊँ ! अनुग्रह मतलब कृपा। मुझ पर ऐसी कोई कृपा कीजिए कि मैं आज्ञा के बाहर कभी न जाऊँ ! पत्र में ऐसी ही कोई विनती उन्होंने की है। ऐसे अनुग्रहप्रद पत्र से कृपालुदेव को संतोष हुआ है। **'आज्ञा**

में ही एकतान हुए बिना परमार्थ के मार्ग की प्राप्ति बहुत ही असुलभ है। Vice-versa लिया जाए तो आज्ञा में एकतान होनेवाले को परमार्थ मार्ग की प्राप्ति बहुत ही सुलभ है। नास्तिकों से अस्तित्व समझने की बात है। अगर जीव आज्ञा में एकतान नहीं हो सका तो उसे आत्मकल्याण के मार्ग की प्राप्ति बहुत दुष्कर है - बहुत दुर्लभ है। और अगर आज्ञा में एकतान हो जाये तो सुलभ है। और **'एकतान होना भी बहुत ही असुलभ है।'** एकतान होना भी आसान नहीं है। क्यों ? (क्योंकि) उसको अपने सारे अभिप्राय, सभी Argument - सारी दलीलें, सारे के सारे विचार एक बार एक तरफ रखने पड़े - Side में रख देने पड़े।

मुमुक्षु :- भाईश्री ! ओघसंज्ञा में रहते हुए भी आज्ञा में एकतान हो सकते हैं ?

पूज्य भाईश्री :- दृढ़ निश्चय होवे तो। अथवा समझ में ऐसी बात होवे कि, इससे क्या लाभ और इससे क्या नुकसान ? यह समझ की पकड़ आ जाये तो हो सकता है। ओघसंज्ञा में एक जगह बहुत बढ़िया अवकाश है। बाकी ओघसंज्ञा में किसी भी प्रकार का अवकाश ही नहीं है। एक जगह, एक कोने में अवकाश है वह बहुत बड़ा है। वह कोना है - निष्कामबुद्धि। क्या ? निष्काम भक्ति ! भक्ति भी निष्काम और बुद्धि व अभिप्राय में भी निष्कामता।

निष्कामता माने क्या ? कि मुझे मेरे आत्मकल्याण के अलावा कोई प्रयोजन नहीं है। यह (बात) तो सीधी सादी समझ में आ सकती है कि नहीं ? यह तो सीधी-सादी समझ में (भी) आती है। बस ! वह बात आ गई, निष्कामता की बात आ गई तो उसको ओघसंज्ञा की भूमिका में निर्मलता आनी चालू हो जाएगी। मानो उस भव तक ओघसंज्ञा नहीं छूटी, एक दृष्टांत ले लेते हैं कि,

ओघसंज्ञा नहीं छूटी, इतना आगे नहीं बढ़ा, पूर्व का उतना आवरण हो गया है, पूर्व के अपराध के कारण से तो ओघसंज्ञा नहीं छूटती है, फिर भी जीवन पर्यंत निष्कामता चालू रही, आखरी श्वास तक, और निष्कामबुद्धि रही तो उसका फल बहुत बड़ा है !! दूसरे भव में उसको प्रत्यक्ष योग में पहचान होने का अवसर आ जाएगा। ओघसंज्ञा छूट जाएगी। कितना Scope (अवकाश) है ! बहुत बड़ा Scope है ! लेकिन वह एक ही जगह पर है - 'निष्कामता'।

मुमुक्षु :- ओघसंज्ञा में निष्कामता रहनी बहुत मुश्किल है।

पूज्य भाईश्री :- बहुत दुष्कर है ! बहुत दुष्कर है !! परंतु एक समझ यदि बराबर हो, तो फिर उसका फल क्या है ? उसके लाभ - नुकसान समझ में तो आते हैं कि नहीं आते ? समझना, यह तो बुद्धि का विषय है कि नहीं ? अब यदि हमारी ओघसंज्ञा छूटी नहीं हो, पहचान हो सके इतनी मात्रा में हमारे में निर्मलता नहीं हो, योग्यता नहीं हो, फिर भी अगर निष्कामता से - निष्कामभाव से भक्ति व अभिप्राय रह जाये व सिर्फ आत्मकल्याण का ही भाव रह जाये तो इसका फल बहुत अच्छा है। फिर तो भक्ति की Degree (मात्रा) भी बढ़ जाएगी, आज्ञाधीनतारूप पकड़ भी बराबर बनी रहेगी और उसका फल भविष्य में तो बहुत अच्छा ही है। इसमें कोई शंका जैसी बात नहीं है। यह एक निष्कामता का गुण बहुत बड़ा गुण है।

मुमुक्षु :- भाईश्री ! ज्ञानी के पास क्या कामना रहती है ?

पूज्य भाईश्री :- बहुभाग लोगों को मान की और कुछ एक लोगों को लोभ की। कामना में दो ही प्रकृति काम करती है - एक मान की और एक लोभ की।

मुमुक्षु :- लोभ में क्या रहता है ?

पूज्य भाईश्री :- लोभ में कोई जरूरतवाला होता है तो उसको अनुकूलता बनी रहे ऐसा भाव रहता है कि, मैं भक्ति करता हूँ, पुण्य बंधेगा तो मेरी प्रतिकूलता चली जाएगी। प्रतिकूलता अनेक प्रकार की हो सकती हैं। फिर जिसको जैसी भी हो, वह प्रतिकूलता मिटे - उसको कहते हैं आकांक्षा यानी लोभवृत्ति।

मुमुक्षु :- मान में क्या रहता है ?

पूज्य भाईश्री :- मान में - अच्छा दिखाव होना। क्या है ? कि, हमारा भी कोई स्थान है ! ऐसा एक भाव रहता है कि नहीं रहता है ? तो उसके लिए जो कोई दिखाव है, धार्मिक क्षेत्र में भी कहीं भी दिखाव करने का (जो) लालच (है, वह) निष्कामता नहीं है। वहाँ सकामता हो गई। सकामता होने से मलिनता आती है और मलिनता से पहचान नहीं हो सकती। योग - प्रत्यक्ष योग मिलने पर भी पहचान नहीं हो सकती। मलिनता वह काम करती है - आवरण लाती है, जीव को आवरित कर देती है।

मुमुक्षु :- भाईश्री ! ओघसंज्ञा में भी ज्ञानीपुरुष की निष्कारण करुणा समझ में आये तो उसको निष्कामता आ सकती है, ऐसा बनता है ?

पूज्य भाईश्री :- मैं वही कहने जा रहा था। छः पदों के पत्र में (४९३ वाँ पत्र) जो चार वचन लिए हैं (उनमें) पहला जो वचन है न ? कि उनकी निष्कारण करुणा की निरंतर स्तुति करने में भी आत्मस्वभाव प्रगट होता है। उसमें क्या लिया ? कि, ज्ञानी को दूसरे जीवों के प्रति करुणा आती है उसमें निष्कामता होती है। निष्कामता वृद्धिगत् होने पर तो वे ज्ञानी हुए हैं। इसलिए ज्ञानी होने के बाद तो सकामता का प्रश्न नहीं रहता। परंतु उन्हें दूसरे जीवों का भला हो ऐसी एक कारुण्यवृत्ति का जन्म होता है, उसे

वात्सल्य भी कहते हैं या उसे प्रभावना का भाव भी कहते हैं। ये सम्यग्दर्शन के आठ अंगमें से दो अंग हैं। सम्यग्दर्शन आठ अंग से अखंडित है, वह न तो खंडित है नहीं उसमें कोई त्रुटि है। जैसे किसी मनुष्य के आठों अंग सहीसलामत हो तो कहते हैं न कि यह मनुष्य शारीरिक खामी से रहित है। लेकिन पैर लँगड़ाता हो तो (कहते हैं कि) इतनी खामी है। उसको एक पैर में चलते वक्त थोड़ी दिक्कत है। परंतु सम्यग्दर्शन तो आठ अंग सहित ही जन्म लेता है। और उसे आठ अंगों से अखंडित ऐसे सम्यग्दर्शनयुक्त सभी ज्ञानियों को वात्सल्य व प्रभावना का उदयभाव कभी-कभी आये बिना नहीं रहता। अभिप्राय में हमेशा होता है। उदय में कभी-कभी आये बिना रहता ही नहीं। इसके पीछे संपूर्णरूप से निष्कामता होती है। इस निष्कामता का स्वरूप देखकर उसे 'निष्कारण करुणा' कही है। कोई कारण नहीं होता। ऐसी निष्कारण करुणा देखकर ज्ञानी का स्वरूप समझ में आये और उनके प्रति बहुमान आये तो बहुमान आनेवाले का भी बेड़ा पार हो जाता है ! तो जिसको इसका परिणमन हो उसका तो पूछना ही क्या ? ऐसा कहते हैं।

(यहाँ कहते हैं) **'...उसी की आज्ञा का सर्वथा निःशंकता से आराधन करे;...**' आराधन करना अर्थात् अमलीकरण करना। (सिर्फ) समझ लेना ऐसे नहीं किन्तु अमलीकरण करना। **'...और तभी सर्व मायिक वासना का अभाव होगा, ऐसा समझें।'** ऊपर जो पहला वचन लिया न ! कि, **'मायिक सुख की सर्व प्रकार की वांछा चाहे जब भी छोड़े बिना छुटकारा होनेवाला नहीं है,...**' अब मायिक सुख छोड़ना यह कोई आसान बात नहीं है। वह पसीना आ जाये ऐसी बात है। कैसे ?

जीव को भीतरमें से जबतक आत्मशांति प्रगट नहीं होती है तबतक इच्छा की आग बंद होना मुश्किल है। पूर्व में भी इसी प्रकार की इच्छाओं से कर्मबंधन किया है। उसी कर्म का उदय आने पर फिर से इच्छाएँ चालू हो जाती हैं। और वह इच्छाएँ शांत तो नहीं होती अपितु बहुत अशांति पैदा करती है। पदार्थ का संयोग होता है तब (अशांति) थोड़ी मंद होती है। वापिस दूसरी इच्छाएँ चालू हो जाती हैं। पदार्थ का संयोग नहीं होता है तो इच्छा बहुत तीव्र हो जाती है। जिससे काफ़ी आकुलता उत्पन्न हो जाती है। यह तो सबका अनुभव है।

अब, इससे छूटना यह कोई बच्चे का खेल तो है नहीं। ऐसी स्थिति में एक बहुत ही सुगम व सरल एवं सर्वश्रेष्ठ उपाय (यहाँ) बतला दिया कि, अगर जीव आज्ञा में एकतान हो या सर्वार्पणबुद्धि से ज्ञानी के चरणों की विनयोपासना करे तो उसकी मायिक वासना का अभाव हो (सकता है)। 'चुटकी बजाये' इतनी आसानी से कर सकता है। कितनी आसानी से कर सकता है ? चुटकी बजाये वैसे कर सकता है ! वरना पसीना आ जाये तो भी नहीं होता, ऐसी एक कठिन बात है, उसे आसान करने का उपाय बतला दिया।

इसके पीछे भी सीधा-सादा Calculation है - गणित है कि जो परिणाम बाह्य पदार्थ की सुखबुद्धि के कारण बाह्य पदार्थ के प्रति झुके हुए हैं, वही परिणाम यहाँ सत्पुरुष के प्रति अत्यंत झुक जाने से, वहाँ का झुकाव छूट जाता है। बिना प्रयत्न, उधर की ओर के प्रयत्न बिना - सहज मात्र में (छूट जाता है)। अतः मायिक वासना का अभाव इस प्रकार होगा, ऐसा समझाया है। यह समझ सके ऐसी बात है, हो सके ऐसी बात है और अनुभव करने जैसा

विषय है। यह दूसरा वचनामृत पूरा हुआ।

तीसरा वचनामृत ३. 'अनादि काल के परिभ्रमण में....' देखो ! 'कृपालुदेव' ने अब यहाँ परिभ्रमण का मुद्दा हाथ में लिया। क्योंकि मोक्ष के मांगलिक रूप ये वचन लिए हैं न ! मोक्ष पाने के मंगलस्वरूप यह बात ली है। 'अनादि काल के परिभ्रमण में....' इस जीव ने अर्थात् अपने जीव ने, '...अनंतवार शास्त्रश्रवण,...' किया है। अनेक शास्त्र सुने हैं, पढ़ें हैं। 'अनंतवार विद्याभ्यास,...' किया है। अनेक प्रकार की विद्याओं का अभ्यास किया है। '...अनंतवार जिनदीक्षा,...' ली है। व्यापार-धंधा, कुटुंब-परिवार छोड़कर दीक्षा लेकर जंगल में चला गया है। दिगंबरी दीक्षा ली है, अनंतवार - एक बार नहीं, लाख-करोड़ बार नहीं, अनंतबार !! यह हकीकत है - Fact है। क्योंकि जीव अनंतकाल से है। भूतकाल का कोई अंत नहीं है। कभी नया उत्पन्न नहीं हुआ। उस तरफ कोई अंत नहीं है, यहाँ इधर भविष्य का कोई अंत नहीं है। शाश्वत पदार्थ है। भूतकाल कितना गया ? तो गणित छोटा पड़े। Beyond mathematic (गणित से उस पार) जाना पड़े। इसमें अनंतवार जिनदीक्षा भी ली है।

'...अनंतवार आचार्यत्व प्राप्त हुआ है।' यानी कि संप्रदाय में बड़ा गुरु बन चुका हो, सबको उपदेश दिया है, (वह भी) अनंतवार ! 'मात्र 'सत्' मिला नहीं,...' यानी उसे ज्ञानीपुरुष नहीं मिले हैं, मात्र 'सत्' मिले नहीं। और मान लो शायद मिले भी हो, क्योंकि वैसे तो योग अनंतबार हुआ है परंतु '...'सत्' सुना नहीं...' जिस रीति से उसे सत् सुनना चाहिए (उस रीत से सुना नहीं)। 'सत्' अर्थात् आत्मकल्याण - शाश्वत आत्मकल्याण हो, ऐसी बात का श्रवण होना - उसे 'सत्श्रवण' कहने में आता है। 'सत्' अर्थात् शाश्वत रहना वह - आत्मकल्याण का शाश्वत रहना वह।

मुमुक्षु :- ज्ञानी के वचन के प्रति प्रीति-भक्ति नहीं हुई !

पूज्य भाईश्री :- लेंगे न ! सब लेते हैं। '...सत् सुना नहीं, और 'सत्' की श्रद्धा की नहीं,...' प्रीति-भक्ति हुए बिना श्रद्धा होने का तो प्रश्न ही नहीं रहता।

'...और इसके मिलने, सुनने और श्रद्धा करने पर ही छुटकारे की गूँज आत्मा में उठेगी।' (अर्थात्) भीतर आत्मामें से मोक्ष की ठोस प्रतीति आ जाएगी। अगर 'सत्' मिला, मिला कब कहे ? कि जब उसका यत्किंचित लाभ हो तब। वरना तो मिला - नहीं मिला दोनों एक ही हुआ न ! वैसे। इसलिए (कहते हैं कि) वह सत् मिलने पर, उसे सुनने पर - सुना भी कब कहे ? कि वह परिणमन की दिशा में आगे बढ़े तब। '...और श्रद्धा करनेपर ही...' सिर्फ बुद्धि से नहीं परंतु यथार्थ प्रकार से इसकी श्रद्धा होने पर ही '...छुटकारे की गूँज आत्मामें उठेगी।' (अर्थात्) तब यह आत्मा अनंत परिभ्रमण से छूट जाएगा, ऐसी भीतरमें से दृढ़ प्रतीति आ जाएगी। वह प्रतीति, सच्ची प्रतीति है - झूठी नहीं। क्योंकि आत्मा सत्य है। आत्मा सत् स्वरूप है और इस 'सत्'में से आयी हुई दृढ़ प्रतीति वह भी 'सत्' का ही एक अंश है। आत्मामें से आयी हुई दृढ़ प्रतीति, वह सत् का ही एक अंश होने से वह गूँज सच्ची है। और ऐसी दृढ़ प्रतीति मुमुक्षु की भूमिका में आती है।

गुरुदेवश्री ऐसा कहते थे कि, यह एक ऐसी बात अभी चल रही है, ऐसी बात चलती है कि अगर जीव को यथार्थ प्रकार से समझ में आये तो भीतरमें से मोक्ष के 'भणकारे' (दृढ़ प्रतीतिमें से उठी हुई गूँज) आते हैं !! ऐसा कहते थे। उसे मोक्ष की गूँज भीतरमें से आयेगी। मोक्ष की गूँज उठना माने क्या ? कि, उसे 'सत्' मिला, उसने 'सत्' सुना और 'सत्' की श्रद्धा की। ऐसा हुआ।

इसमें से उठी मोक्ष की गूँज !! श्रद्धा अर्थात् सम्यग्दर्शन नहीं। 'श्रद्धा' हुई मतलब पक्का हो गया कि, यही 'सत्' है। इसके अलावा दूसरी कोई बात है नहीं। (आत्महित का) यह एक ही प्रकार है, दूसरा कोई प्रकार है नहीं। अतः उसकी रुचि भी ऐसी ही होती है। ऐसी गूँज रुचिमें से उठती है। ऐसी गूँज उठी, उसे फिर 'मोक्ष' विशेष दूर नहीं है !! यह बात जो पत्र - ५६९ में ली है यह बात ठीक से स्पष्ट होती है।

अतः (कहते हैं कि) शास्त्रश्रवण, विद्याभ्यास, जिनदीक्षा यानी त्याग - वहाँ दीक्षा के वक्त तो पूरा त्याग हो गया न ! और उपदेश दे सके ऐसा ज्ञान का क्षयोपशम - आचार्यत्व में वह बात लेनी है। (ऐसे) सब लिया। यह सब भूल सहित भी हो सकता है, ऐसा कहना चाहते हैं। क्या (कहते) हैं ? कि इतना सबकुछ भूलवाला भी हो सकता है। भूल सहित न हो इसकी सावधानी रखनी होगी। कहलाते तो हैं सभी धर्मसाधन ही ! परंतु वह धर्मसाधन यथार्थ प्रकार से हो जब तो साधन है वरना वही बाधक है। वही बंध के कारण हैं। 'सहु साधन बंधन थयां, रह्यो न कोई उपाय, सत् साधन समज्यो नहीं, त्यां बंधन शुं जाय।' (१७) बीस दोहा में लिया कि नहीं ? उसमें भी सत्पुरुष का महत्व बहुत गाया है।

मुमुक्षु : सभी दोहे के Centre (केन्द्र) में यही बात है।

पूज्य भाईश्री : हाँ, सभी दोहे के केन्द्र में यही बात है।

'अनंतकाळ्थी आथड्यो, विना भान भगवान।

सेव्या नहि गुरु संत ने, मूक्युं नहीं अभिमान ॥१५॥

संत चरण आश्रय विना, साधन कर्या अनेक।

पार न तेथी पामियो, ऊग्यो न अंश विवेक ॥१६॥'

बिना विवेक साधन किये, ऐसा कहते हैं। एक अंश भी विवेक

प्रगट नहीं हुआ ! साधन चाहे भले ही सब किये ! परंतु एक अंश भी विवेक प्रगट नहीं हुआ। इसलिए उन्होंने यहाँ लिया है कि **'किसी भी प्रकार से सद्गुरु की शोध करे।'**

यह बात उन्होंने ७६ नंबर के पत्र में ज़रा ज़ोर से की है। बहुत शुरू-शुरू में वह बात तो कर चुके हैं। यहाँ फिर से वही बात थोड़े दूसरे ढंग से ली है। ७६ वाँ पत्र है न ! **'दूसरा कुछ मत खोज...'** यह उनका बहुत प्रसिद्ध वचनामृत है। **'दूसरा कुछ मत खोज, मात्र एक सत्पुरुष को खोजकर उसके चरणकमल में सर्व भाव अर्पण करके...'** समर्पण का विषय यहाँ भी लिया है। **'...प्रवृत्ति करता रह। फिर यदि मोक्ष न मिले तो मुझ से लेना।'** यह Guarantee (गारंटी) दी है। दस्तावेज में गारंटी देते हैं न ! यहाँ स्वयं Guarantor (गारंटी देनेवाले) के रूप में खड़े हैं। मोक्ष के Guarantor हैं !! उन्हें पता है कि, यह कोई मोक्ष लेने मेरे पास आनेवाला तो है नहीं क्योंकि उसको खुद को भीतरमें से प्रतीति आ जाएगी कि अब मेरा मोक्ष निश्चितरूप से हो जाएगा। इस बात का गवाह वह आत्मा खुद ही होता है। यह उन्हें खुद को पता है इसलिए Guarantor की जगह दस्तखत कर गये हैं। Bank में गारंटी लेते हैं कि नहीं ? कोई आदमी Loan लेता है तो साथ में दूसरे एक-दो जन को Guarantor के रूप में रखते हैं, वह ऐसे कि, अगर वह पैसा नहीं भरेगा तो हम भर देंगे। वैसे (यहाँ) कहते हैं कि, **'मोक्ष न मिले तो मुझ से लेना।'**

इसप्रकार **'सर्वार्पणपने का फल मोक्ष है।'** जिसका फल मोक्ष है - यह जिसकी समझ में आये उसे सर्वार्पणता आये बिना रहती नहीं। बस ! सीधी-सादी बात है। यहाँ तक रखते हैं। अभी दो वचनामृत (बाकी) हैं, वह कल स्वाध्याय में लेंगे।



प्रवचन - ४ दि. २६-७-१९९८ - पत्रांक-१६६ (४)

श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत - १६६ वाँ पत्र चलता है। पत्रा : २४९। मोक्ष के सर्वोत्तम कारणरूप मांगलिक वचनामृत (लिखे हैं)। इस पत्र में पाँच वचनामृत लिखे हैं। तीन वचनामृत पर अपना दो दिन स्वाध्याय चल चुका है।

चौथा वचनामृत - एक पंक्ति में सिद्धांत रख दिया है। ४. 'मोक्ष का मार्ग बाहर नहीं, परंतु आत्मा में है।' मोक्ष का मार्ग बाह्य पदार्थ के ग्रहण-त्याग में नहीं है। मोक्ष का मार्ग किसी पर्वत या गुफा में नहीं है। मोक्ष का मार्ग किसी मंदिर या मसजिद में नहीं है। मोक्ष का मार्ग किसी शास्त्र में भी नहीं है। मोक्ष का मार्ग आत्मा में है।

'मोक्ष का मार्ग बाहर नहीं,...' इतना जो आधा वचन है उसमें से यह फलित होता है कि, किसी भी प्रकार का बाह्य प्रयत्न काम में नहीं आयेगा। बाहर में कोई भी क्रिया, कोई भी कार्य करेंगे तो इससे कोई मोक्षमार्ग मिलनेवाला नहीं है। अध्यात्मशास्त्र जैसे समयसार आदि में तो यहाँ तक बात आती है कि, मोक्षमार्ग का कोई बाह्य चिह्न नहीं है, कोई बाह्य लिंग नहीं है। 'लिंग' शब्द इस्तेमाल किया है, यानी कि कोई चिह्न नहीं है।

मोक्ष का मार्ग आत्मा में है - यह इसलिए कहा क्योंकि बंध का मार्ग भी आत्मा में ही है। आत्मा अपने परिणाम से बंधता है और परिणाम से ही छूटता है। संस्कृत में एक वचनामृत है 'मनः

एव मनुष्याणां कारणं बंध मोक्षयोहोः (अर्थात्) मन ही बंध व मोक्ष का कारण है। बंध का कारण भी मन है और मोक्ष का कारण भी मन है। मन अर्थात् ज्ञानोपयोग। जिस ज्ञान का व्यापार परपदार्थ के साथ प्रतिबद्ध होता है - वह बंध है। वहाँ आत्मा अटकता है - प्रतिबद्ध होता है - बंधता है। वहाँ से मुक्त होकर आत्मा में लगे - स्वरूप में लगे तब वह अबंध परिणाम से मोक्षमार्ग में (चलता) है। इसका मतलब है कि बाहर में कोई भी प्रयत्न करके मोक्ष के मार्ग की प्राप्ति का व्यर्थ प्रयास कर्तव्य नहीं है या ऐसा कहे कि हमें समय (और) शक्ति का दुर्व्यय करना नहीं है।

(मोक्ष का मार्ग) आत्मा में है मतलब आत्मा में ही है। आत्मा से बाहर नहीं है। (अब कहते हैं) '**मार्ग को प्राप्त पुरुष मार्ग को प्राप्त करायेगा।**' ऐसे मार्ग को जो आत्मा प्राप्त होगा (वह मार्ग दिखायेगा)। वह मार्ग कैसे प्राप्त हो ? यह बात उनसे मिलेगी। अन्यत्र कहीं से नहीं मिलेगी। उस बात को भी सीमित कर दिया कि जो मोक्षमार्ग को प्राप्त होगा वही दूसरों को मोक्षमार्ग की प्राप्ति में निमित्त-कारणभूत होगा। दूसरा कोई नहीं हो सकेगा। क्योंकि जो स्वयं अनजान है, स्वयं बेखबर है वह दूसरों को कैसे कह सकता है कि, आप ऐसा कीजिए तो मुक्त होंगे, आप वैसा कीजिए तो मुक्ति पाओगे।

स्पष्ट बात ऐसी है कि बहिर्मुख परिणाम है, वह बंधभाव है। किसी न किसी अन्य पदार्थ के साथ उसका प्रतिबद्धतारूप संबंध है। जब कि अंतर्मुख परिणाम मुक्तभाव है। क्योंकि उसका संबंध अपने स्वरूप से है। अवलंबन बिना का कोई परिणाम नहीं होता। चाहे फिर अपने (स्वरूप का) अवलंबन ले, चाहे पर का अवलंबन ले। चाहे स्वभाव का अवलंबन ले, चाहे विभाव का अवलंबन ले।

लेकिन कोई परिणाम अवलंबन रहित नहीं है।

अब, अंतर्मुख होकर स्वरूप का जो अवलंबन लेना है, यह विश्व की एक सर्वोत्कृष्ट रहस्यभूत घटना है - Top secret है। (अंतर्मुख होने का) विषय प्रयोगात्मक होने से प्रयोग बिना वह विषय समझ में नहीं आता। ऐसा प्रयोगरूप परिणमन जिसमें होता है, उसे देखने की अंतरात्मवृत्तिपूर्वक (मुमुक्षु) में योग्यता आती है तब उस बात की झाँकी होती है, समझ में आती है और बाद में उस दिशा में प्रयत्न शुरू होता है या चालू हो सकता है।

मार्गप्राप्ति के लिए ऐसा ही कोई उत्सुक जीव होता है और मार्गप्राप्त ऐसे कोई भी ज्ञानीपुरुष - सत्पुरुष होते हैं, वे उन्हें यथार्थ प्रकार से बात समझाते हैं।

फिर से लेते हैं कि, मोक्ष का मार्ग कहीं बाहर नहीं है। मंदिर - मसजिद में नहीं है, पर्वत पर या गुफा में नहीं है, शास्त्र में भी नहीं है और बाह्य पदार्थ के ग्रहण-त्याग में भी नहीं है, इसलिए फालतू का कोई प्रयत्न हमें नहीं करना चाहिए। उसमें हमारी शक्ति का खोटा (व्यर्थ) खर्च हो जायेगा (और) समय भी बिगड़ेगा। मोक्ष का मार्ग अंदर में - आत्मा में है, इसलिए हमको आत्मामें से मोक्षमार्ग प्रगट करने का पुरुषार्थ करना है, कोई दूसरी तरह से नहीं करना है।

उतना कहकर यह बात कही कि, जो कोई जीव ने उस मार्ग की प्राप्ति की है वही इस मार्ग को प्राप्त करा सकता है। दूसरा कोई (जो) अनजाना है वह कहाँ से करा सकता है ? खुद ही अंधा है, देखता नहीं वह कैसे दिखायेगा ? दीया से दीया जलता है। कागज पर Painting किये हुए दीये से नया दीया नहीं जलता है। शास्त्र में जो दीये की बात है (यानी शास्त्र में जो लिखा

है) वह Painting किया हुआ दीया है। और सत्पुरुष का परिणमन है वह वास्तविक दीया है। (ऐसे) दीये से दीया जलता है। चित्रित दीये से कोई दीया नहीं जलता। यह एक वास्तविकता है।

क्योंकि मोक्षमार्ग एक अंतर्मुख परिणाम है। कैसा है ? अंतर्मुखी परिणाम होने से अभी तक वह बहुत गूढ़ विषय रहा है, रहस्यभूत विषय रहा है। और उस विषय को, सत्पुरुष में इस अंतर्मुखी परिणमन की परिणति को देखे बिना, उसका दर्शन हुए बिना, किसीको इस विषय में - कैसे अंतर्मुख होना ? वह बात न समझ में आती है, न प्रयोग में भी आती है। इसलिए जिसने मार्ग को पाया है वही मार्ग प्राप्त करा सकता है। और वही मार्ग प्राप्त कराने में (निमित्तभूत कारण बन सकता है)। जिसको यह जिज्ञासा और भावना है उसको अच्छी तरह यह बात दिखाता है, दिखा सकता है। और तभी योग्यतावान को उसकी प्राप्ति होती है। (मार्ग प्राप्त करने में) योग्यता की भी आवश्यकता है और ज्ञानी की भी आवश्यकता है। दोनों बातें चाहिए। अकेले ज्ञानी बिना योग्यतावाले को कुछ नहीं करा सकते। और अकेला योग्यतावाला बिना ज्ञानी अपना कोई कार्य कर सकता है, वह भी संभवित नहीं है। क्योंकि खुद अनजाना है (तो) कैसे काम करेगा ? यह चौथा वचनामृत हुआ।

मुमुक्षु :- भाईश्री ! पहले से फिर से लेंगे ?

पूज्य भाईश्री :- हाँ, (वैसे तो) दो दिन चल चुका है। दो घंटा चल चुका है। फिर भी संक्षेप में थोड़ा ले लेते हैं। मायिक सुख यानी कि जो भ्रांतिगत सुख है, सुखाभासरूप सुख है, उसकी जीव को इच्छा रहा करती है। अंतर सुख के अभाव में - आत्मसुख के अभाव में, जो सुख नहीं है ऐसे सुख की इच्छा रहा करती है, जीव इससे दुःखी होता है। सुखी तो नहीं होता अपितु दुःखी

होता है, वह (सुखबुद्धि) छोड़े बिना किसी भी तरह छुटकारा नहीं होगा। अथवा ऐसे सुख की इच्छा व ऐसे सुख के बीच रहकर कोई मुक्त हो जाये, ऐसा तो कभी बनता नहीं। जब से यह बात समझ में आयी, सुनी, तब से वह सुख (की वांछा) कैसे (मिटे) ? यह सुखाभास की इच्छा कैसे छूटे ? पदार्थ तो पदार्थ में है, कोई आत्मा में तो नहीं आते। कोई भी खाने का पदार्थ आत्मा में नहीं आया, कोई सुगंध के परमाणु आत्मा में नहीं आये, कोई टंड-गर्मी के परमाणु आत्मा में नहीं आये। परंतु यह इच्छा जो है, वह इच्छा कैसे मिटे ? यथार्थ प्रकार से - सम्यक् प्रकार से उस क्रम का अभ्यास यानी कि क्रम की Practice जब से यह बात सुनी तभी से कर्तव्य है, ऐसा समझना। पहले वचनामृत में ऐसा कहा है।

दूसरे (वचनामृत में) ऐसा कहते हैं कि, इस विषय में सफलता प्राप्त करनी हो तो किसी भी प्रकार से सद्गुरु की शोध करें। सद्गुरु माने इस विषय में जिन्होंने सफलता प्राप्त की है, ऐसे पुरुष - ऐसे आत्मा। सद्गुरु अर्थात् ज्ञानी। स्त्री-पुरुष का यहाँ सवाल नहीं है। स्त्री भी ज्ञानी हो सकती है। परंतु वह फिर स्त्री नहीं - वह आत्मा है, वह पुरुष है। पुरुषार्थ किया इसलिए पुरुष है। पुरुषार्थ करे वह पुरुष, पुरुषार्थ नहीं कर सके वह पुरुष नहीं। उसे तो शास्त्र में नपुंसक भी कहा है।

अतः किसी भी प्रकार से सद्गुरु की शोध करें। शोध करने की खुद को जरूरत लगनी चाहिए। क्योंकि इसके बिना मेरा कोई छुटकारा नहीं है यह बात बराबर समझ में होनी चाहिए और तभी इनकी शोध होगी और शोध करने पर अगर मिल जाए तो तन, मन, वचन और आत्मा से अर्पणबुद्धि करना। यानी कि सर्वार्पणबुद्धि से उनका सत्संग करना। सर्वार्पणबुद्धि से उनकी आज्ञा को शिरोधार्य

करना। और उनकी आज्ञा का यदि सर्वप्रकार से निःशंकतापूर्वक आराधन किया तो अवश्य उन सभी मायिक सुख की इच्छारूप वासना जो है, उसका अभाव हो सकेगा।

पहले वचनामृत में जो मायिक सुख को मिटाने की बात की है, वह इच्छा इसप्रकार मिट सकेगी, यह सूचना भी इसमें आ जाती है। लोग उस इच्छा को मिटाने के लिए पदार्थों का त्याग करते हैं, वह सही उपाय नहीं है। उपाय तो यही है। ऐसे उपाय के ज्ञाता ऐसे ज्ञानीपुरुष की शोध करना और उनके प्रति अगर सर्वार्पणबुद्धि आयी तो सहजमात्र में इच्छाएँ टूट सकेगी - अभाव हो सकेगा। इसके अलावा दूसरा कोई उपाय नहीं है। आत्मा में जाने का उपाय है किन्तु सीधा कोई आत्मा में नहीं जा सकता ! पहले सत्पुरुष के प्रति परिणाम चालू होते हैं, बाद में ही आत्मा प्रत्ययी परिणाम शुरू होते हैं। इसके पहले सीधा आत्मा में जाने के, आत्मा का अवलंबन लेने योग्य परिणाम उत्पन्न नहीं होते। इसलिए यह बात की है।

तीसरे (वचनामृत में) ऐसा कहा कि, खुद अनादिकाल से है। अनंतकाल में धर्म के साधनरूप ऐसे जो परिणाम हैं - शास्त्रश्रवण, विद्याभ्यास, जिनदीक्षा व आचार्यत्व (यानी कि) खुद के द्वारा उपदेश देने का कार्य - यह सब भी अनंतबार किया है। अभी तो ऐसी हालत है कि थोड़ी समझ हुई कि, चलते फिरते मुमुक्षु उपदेश देने लग जाता है। यह खुद की एक भूलवाली क्रिया है। उपदेश लेने की जरूरत है, अभी उपदेश देने की कोई भूमिका तो है ही नहीं। परंतु अभी तो थोड़ा सत्संग किया हो, थोड़े ग्रंथ पढ़ लिए हो, थोड़ी पुस्तकें पढ़ ली हो कि तुरंत दूसरे को उपदेश देने लगता है - यह आत्मा को नुकसानकारक है। ऐसी भूल मुमुक्षु

को कर्तव्य नहीं है। वह सब आचार्यत्व है, ऐसा अनंतबार किया है। मात्र 'सत्' मिले नहीं यानी कि सत्पुरुष नहीं मिले हैं। नहीं मिले मतलब पहचान नहीं हुई। पहचाने तब तो मिले ऐसा जाने। अगर पहचाना नहीं तो मिले वह भी नहीं मिलने के बराबर, अनंतबार ऐसा हुआ है। पहचानपूर्वक उनकी बात नहीं सुनी, सुनकर श्रद्धा नहीं की और उनके मिलने पर, अर्थात् पहचान होने पर, उन्हें सुनने पर, सुनना अर्थात् भाव से सुनना, उसकी श्रद्धा होने पर छूटने की वार्ता की आत्मामें से प्रतीति आएगी। यानी कि आत्मा स्वयं इसकी साक्षी देगा कि मेरा अब अनंतकाल परिभ्रमण नहीं होगा। ऐसी एक स्थिति खड़ी होगी। ऐसा एक लक्षण बतलाया कि, इस मार्ग पर मुमुक्षु की भूमिका में आगे बढ़ने पर, ऐसा एक लक्षण, ऐसा एक चिह्न अनुभवगोचर होगा।

जैसे हमें किसी अनजान रास्ते संबंधित चिह्न दिखाये जाते हैं कि, आप इस तरफ जाएंगे तो पहले नीम का पेड़ आएगा, फिर इस तरफ मुड़ेंगे तो एक मंदिर आएगा, फिर इस तरफ मुड़ेंगे तो फलौं आएगा। (इस प्रकार) आदमी जाते-जाते मिलान करता जाए तो पता चल जाएगा कि, ठीक है मैं सही रास्ते पर चल रहा हूँ। दूसरे-दूसरे रास्ते को छोड़कर मैं जिस रास्ते पर जा रहा हूँ वह बराबर है। वैसे आत्मामें से दृढ़ प्रतीति आये तब समझना कि मुझे ज्ञानीपुरुष मिले हैं, मैं उनकी बात सुनता हूँ और विश्वास भी करता हूँ। ये तीन वचनामृत पर हमारा विस्तार से स्वाध्याय चल गया था।

(अब) आखरी पाँचवाँ वचनामृत है। ५. 'मार्ग दो अक्षरों में निहित है...' 'मार्ग' - 'म' और 'ग' दो ही अक्षर है। 'र' तो आधा है। ज्यादा से ज्यादा ढाई अक्षर हुए। 'मार्ग दो अक्षरों में निहित है

और अनादि काल से इतना सब करने पर भी क्यों प्राप्त नहीं हुआ, इसका विचार करें।

१९५ पत्र में इस पर बहुत जोर दिया है। इस वचनामृत का जो विषय है उस पर जोर दिया है। इस जीव ने अनंतकाल से परिभ्रमण किया है फिर भी यह परिभ्रमण नहीं मिटा है तो वह क्या करने से मिटे ? इस विषय की चिंता - चिंतना - परिभ्रमण की चिंतना अत्यंत-अत्यंत होनी चाहिए कि जिस चिंतनामें से वेदना आये और वेदनामें से जीव मार्ग के लिए तरसे। और इसके लिए तड़प उठे। उस विषय में उन्होंने दो पत्र लिखे हैं, एक ८६ वाँ पत्र और एक १९५ वाँ।

यहाँ इस वचनामृत में उसका निर्देश है कि, जीव ने कितना कुछ किया है, जबकि मार्ग तो दो ही अक्षरों में कहा है, इसके लिए दो ही अक्षर कहे हैं, तो ऐसा तो क्या रह गया ? मेरी कौन-सी बात रह जाती है ! उस पर विचार करना चाहिए, उस पर गहराई से विचार करना चाहिए।

मनुष्यभव जैसा दुर्लभ मनुष्य भव चला जा रहा है। संयोग की छोटी-मोटी अवस्था और व्यवस्था करने में, जिसके एक समय का मूल्य चक्रवर्ती की संपत्ति से भी अधिक है, ऐसी मनुष्य आयु क्षुद्र पदार्थों के पीछे खर्च हो रही है, उसका खेद होना चाहिए। और मार्ग क्यों नहीं मिला इसकी चिंता होनी चाहिए। वरना परिभ्रमण, अनंत जन्म-मरण की तलवार मेरे सर पर लटक रही है, उसकी सदैव सभानता रहनी चाहिए। हमेशा रहनी चाहिए मतलब निरंतर उसकी चिंता रहे तो मार्ग की दिशा का अल्पमात्र में खयाल आयेगा कि, किस दिशा में जाना है (और) क्या कर्तव्य है ? और क्या कर्तव्य नहीं है ? वरना कर्तव्य - अकर्तव्य की कोई सूझ नहीं

आएगी। और बिना ऐसी सूझ कर्तव्य - अकर्तव्य जो भी नक्की किया होगा सब निष्फल जाएगा। इस बात को हलके से - अगंभीरता से लेने योग्य नहीं है, बहुत गंभीरता से लेनी है। 'विचार करें' ऐसा कहा, उसमें बहुत गंभीरता से लेने की बात है।

इसप्रकार मोक्ष के सर्वोत्तम कारणरूप ये वचन मांगलिक वचन हैं। यह उन्होंने सौभाग्यभाई को शुरू-शुरू के परिचय में ही मुख्य - मुख्य बातें कह दी हैं। सौभाग्यभाई ने परम प्रेम से इन वचनामृतों को ग्रहण करने का प्रयास किया होगा, यह निश्चितरूप से इसलिए कह सकते हैं, क्योंकि उनके आत्मा में तत्पश्चात् काफी निर्मलता प्रगट हुई है। निर्मलता तब ही प्रगट होती है जब दर्शनमोह मंद पड़े, मिथ्यात्व और अज्ञान कमजोर हो - फ़ीका पड़े।

ज्ञानीपुरुष के आत्मकल्याणकारी विचार, मोक्ष के कारणरूप ऐसे वचन मिले तब रत्नों के मिलने जैसा उल्लास व आनंद आना चाहिए !! कैसा ? रत्नों की प्राप्ति जैसा उल्लास व आनंद होना चाहिए कि ऐसे अपूर्व रत्न मुझे कभी नहीं मिले ! ऐसा आनंद होना चाहिए - इतना उल्लास आना चाहिए ! भले पाँच वचनामृत ही हैं परंतु यदि यथार्थरूप से ग्रहण करे तो सब इसमें आ जाता है। सब इसमें आ गया है, ऐसा कह सकते हैं। इसलिए 'मोक्ष के कारणरूप मांगलिक वचन' - ऐसा कहा है।

इसलिए सिर्फ (एक) घंटे के स्वाध्याय में यह विषय समाप्त होता है, ऐसे नहीं लेकर, इन वचनों के वाच्य तक पहुँचने का पुरुषार्थ करना चाहिए। वचन तो वचन है, वचन वाचक है, उसका जो वाच्य है उसमें हमारा परम हित समाया है। अतः इसके वाच्य तक पहुँचने का हमें प्रयत्न करना चाहिए। यह १६६ वाँ पत्र यहाँ स्वाध्याय में पूरा होता है।



बंबई, जेठ सुदी ११, शुक्र, १९४९
वैराग्यादि साधनसंपन्न भाई कृष्णदास, श्री खंभात।

शुद्ध चित्तसे विदित की हुई आपकी विज्ञप्ति पहुँची है।
सब परमार्थके साधनोंमें परम साधन सत्संग है, सत्पुरुषके
चरणके समीपका निवास है। सर्वकालमें उसकी दुर्लभता
है, और ऐसे विषम कालमें उसकी अत्यंत दुर्लभता
ज्ञानीपुरुषोंने जानी है।

ज्ञानीपुरुषोंकी प्रवृत्ति प्रवृत्ति जैसी नहीं होती। जैसे गरम
पानीमें अग्निका मुख्य गुण नहीं कहा जा सकता, वैसे
ज्ञानीकी प्रवृत्ति है; तथापि ज्ञानीपुरुष भी किसी प्रकारसे
भी निवृत्तिको चाहते हैं। पूर्वकालमें आराधन किये हुए
निवृत्तिके क्षेत्र, वन, उपवन, योग, समाधि और सत्संगादि
ज्ञानीपुरुषको प्रवृत्तिमें रहते हुए वारंवार याद आ जाते हैं।
तथापि ज्ञानी उदयप्राप्त प्रारब्धका अनुसरण करते हैं। हमें
सत्संगकी रुचि रहती है, उसका लक्ष्य रहता है, परंतु
यहाँ नियमितरूपसे वैसा अवकाश नहीं है।

कल्याणमें प्रतिबंधरूप जो-जो कारण हैं, उनका जीवको
वारंवार विचार करना योग्य है; उन-उन कारणोंका वारंवार
विचार करके दूर करना योग्य है; और इस मार्गका अनुसरण
किये बिना कल्याणकी प्राप्ति नहीं होती। मल, विक्षेप और
अज्ञान ये जीवके अनादिसे तीन दोष हैं। ज्ञानीपुरुषोंके
वचनोंकी प्राप्ति होनेपर, उनका यथायोग्य विचार होनेसे

अज्ञानकी निवृत्ति होती है। उस अज्ञानकी संतति बलवान होनेसे उसका रोध होनेके लिये और ज्ञानीपुरुषोंके वचनोंका यथायोग्य विचार होनेके लिये मल और विक्षेपको दूर करना योग्य है। सरलता, क्षमा, अपने दोष देखना, अल्पारंभ, अल्पपरिग्रह इत्यादि मल मिटनेके साधन हैं। ज्ञानीपुरुषकी अत्यंत भक्ति विक्षेप मिटनेका साधन है।

ज्ञानीपुरुषके समागमका अंतराय रहता हो, उस-उस प्रसंगमें वारंवार उन ज्ञानीपुरुषकी दशा, चेष्टा और वचनोंका निरीक्षण करना, स्मरण करना और विचार करना योग्य है। और उस समागमके अंतरायमें, प्रवृत्तिके प्रसंगोंमें अत्यंत सावधानी रखना योग्य है; क्योंकि एक तो समागमका बल नहीं है और दूसरा अनादि अभ्यास है जिसका, ऐसी सहजाकार प्रवृत्ति है; जिससे जीव आवरणप्राप्त होता है। घरका, जातिका अथवा दूसरे वैसे कामोंका कारण आनेपर उदासीन भावसे उन्हें, प्रतिबंधरूप जानकर प्रवृत्ति करना योग्य है। उन कारणोंको मुख्य बनाकर कोई प्रवृत्ति करना योग्य नहीं है; और ऐसा हुए बिना प्रवृत्तिका अवकाश प्राप्त नहीं होता।

आत्माको भिन्न-भिन्न प्रकारकी कल्पनासे विचार करनेमें लोकसंज्ञा, ओघसंज्ञा और असत्संग ये कारण हैं; जिन कारणोंमें उदासीन हुए बिना, निःसत्त्व ऐसी लोकसंबंधी जपतपादि क्रियामें साक्षात् मोक्ष नहीं है, परंपरा मोक्ष नहीं है, ऐसा माने बिना, निःसत्त्व असत्शास्त्र और असद्गुरु, जो आत्मस्वरूपके आवरणके मुख्य कारण हैं,

उन्हें साक्षात् आत्मघाती जाने बिना जीवको जीवके स्वरूपका निश्चय होना बहुत दुष्कर है, अत्यंत दुष्कर है। ज्ञानीपुरुषके प्रगट आत्मस्वरूपको कहनेवाले वचन भी उन कारणोंके कारण जीवको स्वरूपका विचार करनेके लिये बलवान नहीं होते।

अब ऐसा निश्चय करना योग्य है कि जिसे आत्मस्वरूप प्राप्त है, प्रगट है, उस पुरुष के बिना अन्य कोई उस आत्मस्वरूपको यथार्थ कहनेके योग्य नहीं है; और उस पुरुषसे आत्मा जाने बिना अन्य कोई कल्याणका उपाय नहीं है। उस पुरुषसे आत्मा जाने बिना, आत्मा जाना है, ऐसी कल्पनाका मुमुक्षु जीवको सर्वथा त्याग करना योग्य है। उस आत्मारूप पुरुषके सत्संगकी निरंतर कामना रखकर उदासीनतासे लोकधर्मसंबंधी और कर्मसंबंधी परिणामसे छूटा जा सके इस प्रकारसे व्यवहार करना। जिस व्यवहारके करनेमें जीवको अपनी महत्तादिकी इच्छा हो वह व्यवहार करना यथायोग्य नहीं है।

हमारे समागमका अभी अंतराय जानकर निराशाको प्राप्त होना योग्य है; तथापि वैसा करनेमें 'ईश्वरेच्छा' जानकर समागमकी कामना रखकर जितना परस्पर मुमुक्षुभाइयोंका समागम हो सके उतना करें, जितनी हो सके उतनी प्रवृत्तिमें विरक्तता रखें, सत्पुरुषोंके चरित्र और मार्गानुसारी (सुंदरदास, प्रीतम, अखा, कबीर आदि) जीवोंके वचन और जिनका उद्देश मुख्यतः आत्माको कहनेका है, ऐसे (विचारसागर, सुंदरदासके ग्रंथ, आनंदघनजी, बनारसीदास, कबीर, अखा इत्यादिके पद) ग्रंथोंका परिचय रखें और इन सब साधनोंमें

मुख्य साधन तो श्री सत्पुरुषका समागम मानें।

हमारे समागमका अंतराय जानकर चित्तमें प्रमादको अवकाश देना योग्य नहीं है, परस्पर मुमुक्षुभाइयोंके समागमको अव्यवस्थित होने देना योग्य नहीं है; निवृत्तिके क्षेत्रका प्रसंग न्यून होने देना योग्य नहीं है; कामनापूर्वक प्रवृत्ति योग्य नहीं है; ऐसा विचारकर यथासंभव अप्रमत्तताका, परस्परके समागमका, निवृत्तिके क्षेत्रका और प्रवृत्तिकी उदासीनताका आराधन करें।

जो प्रवृत्ति यहाँ उदयमें है, वह ऐसी है कि दूसरे द्वारसे चले जाते हुए भी छोड़ी नहीं जा सकती, वेदन करने योग्य है, इसलिये उसका अनुसरण करते हैं; तथापि अव्याबाध स्थितिमें जैसाका तैसा स्वास्थ्य है।

आज यह आठवाँ पत्र लिखते हैं। वे सब आप सभी जिज्ञासुभाइयोंके वारंवार विचार करनेके लिये लिखे गये हैं। चित्त ऐसे उदयवाला कभी ही रहता है। आज अनुक्रमसे वैसा उदय होनेसे, उस उदयके अनुसार लिखा है। हम सत्संग और निवृत्तिकी कामना रखते हैं, तो फिर आप सबको यह रखनी योग्य हो, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। हम व्यवहारमें रहते हुए अल्पारंभको, अल्पपरिग्रहको प्रारब्धनिवृत्तिरूपसे चाहते हैं, महान आरंभ और महान परिग्रहमें नहीं पड़ते। तो फिर आपको वैसा बर्ताव करना योग्य हो, इसमें कोई संशय करना योग्य नहीं है। समागम होनेके योगका नियमित समय लिखा जा सके ऐसा अभी नहीं सूझता। यही विनती।

प्रवचन - ५ दि. २९-७-१९९४ - पत्रांक-४४९ (१)

(श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत पत्रांक - ४४९) मुंबई से जेठ सुदी ११, १९४९ की साल में लिखा गया पत्र है। आज से गिने तो १०१ साल बीत चुके। 'वैराग्यादि साधनसंपन्न भाई कृष्णदास, श्री खंभात।' खंभात के एक योग्यतावान मुमुक्षु पर आठ पोस्टकार्ड में लिखा गया पत्र, यहाँ एक पत्र में संकलित किया गया है। जितने पैराग्राफ हैं उतने एक-एक पोस्टकार्ड होना संभव है। जिन्हें पत्र लिखा है वे - कृष्णदासभाई वैराग्य, भक्ति, सरलता आदि साधन संपन्न थे। आगे-पीछे उन को लिखे गये पत्रों से इस बात की प्रतीति आती है कि वे एक बहुत योग्यतावान मुमुक्षु थे।

'शुद्ध चित्त से विदित की हुई आपकी विज्ञप्ति पहुँची है।' कृष्णदास भाई ने जो पत्र लिखा होगा वह किस भूमिका में रहकर लिखा होगा, इसका निर्देश, कृपालुदेव पत्र की पहुँच देते हुए प्रथम वाक्य में कर रहे हैं। उन्होंने अपने पत्र में कृपालुदेव को विनती की होगी कि, खुद का आत्मकल्याण हो - उस विषय में कोई विज्ञप्ति की होगी, ऐसा प्रत्युत्तर पर से समझा जा सकता है। विशेषता यह है कि शुद्ध चित्त से विदित की हुई विज्ञप्ति थी। यह एक एकदम नीव की बात है। हमारे इस जीव ने भी बहुत समय से और भूतकाल देखा जाये तो अनंतकाल से धर्म के क्षेत्र में कुछ न कुछ, कुछ न कुछ जो भी ठीक लगा, जिस वक्त जो ठीक

समझा इसकी प्रवृत्ति की है और कर भी रहे हैं। सवाल इतना है कि, इसमें चित्त की शुद्धता कितनी है ? कृपालुदेव इसी भूमिका के लिए दूसरा शब्द इस्तेमाल करते हैं - 'शुद्ध अंतःकरण'। (अर्थात्) जब तक अंतःकरण की शुद्धता नहीं हुई तब तक धर्म प्रवृत्ति अशुद्ध अंतःकरणपूर्वक यानी कि मलिन भावना सहित, मलिन भावों के साथ, मलिन वृत्तियों के साथ चलती हैं। जिसके कारण वह धार्मिक प्रवृत्तियाँ निष्फल जाती हैं और अभी तक निष्फल गई भी हैं। हमारा परिभ्रमण इस बात का सबूत दे रहा है। अतः यह एक एकदम नीव की बात है।

जब तक अंतःकरण शुद्ध नहीं होता तब तक यह अंतःकरण अभिप्राय पर सीधा असर पहुँचाता है इसलिए अभिप्राय भी मलिन रहता है। फिर अभिप्राय मलिन होने के कारण मलिन अभिप्राय सहित चल रही सभी वृत्तियाँ मलिनता सहित वर्तती हैं। शुद्ध अंतःकरण में सवाल ईमानदारी का है।

आनंदघनजी ने जो पद लिखा है उसमें उन्होंने पूजा के बारे में बात लिखी है; परंतु पूजा हो, स्वाध्याय हो, चाहे भक्ति हो, कोई भी धार्मिक प्रवृत्ति हो, नीव में अंतःकरण की शुद्धि न हो तो किसी भी प्रकार से वह प्रवृत्ति सफल नहीं हो सकती। उन्होंने तो अपने स्तवन में बात ली है कि अंतःकरण की शुद्धि के बिना भगवान की पूजा है वह 'कपटपूजा' है। भगवान ऋषभदेवस्वामी की स्तुति करते-करते वे कहते हैं। (पत्रांक - ७५३) 'जब तक चित्त में दूसरा भाव हो तब तक यदि यह प्रदर्शित करें कि आपके सिवाय दूसरे में मेरा कोई भी भाव नहीं है तो यह वृथा ही है और कपट है।' स्तुति में हमलोग बोलते हैं कि 'हे भगवान' ! हमलोग कृपालुदेव के प्रति स्तुति करते हैं तो 'हे भगवान' ! हे

प्रभु ! (बोलते हैं) जिनेश्वर के प्रति करते हैं उसवक्त भी (ऐसा ही कहते हैं कि) 'हे भगवान ! 'हे प्रभु ! आप ही मेरे सर्वस्व हैं। आप मुझे ऐसा कर दे, आप मुझे वैसा कर दे, ऐसे-ऐसे उनके प्रति काफी अहोभाव प्रदर्शित करते हैं। और जैसे भी भगवान के समक्ष कौन अहोभाव प्रदर्शित नहीं करेगा ? लेकिन इसके बावजूद भी अगर चित्त में कोई दूसरा भाव हो तो वह वृथा ही है और कपट है। **'और जब तक कपट है तब तक भगवान के चरणों में आत्मार्पण कहाँ से हो ?'** बहुत मार्मिक बात की है। आत्मा को अर्पण करने की बात की है; तन-मन-धन को अर्पण करने की बात यहाँ नहीं की।

हमलोग तन-मन-धन अर्पण करते हैं। लाखों रुपये खर्च करते हैं, मंदिर बनवाते हैं, स्वाध्याय हाल बनवाते हैं, इसके पीछे हमारी शक्ति का खर्च करते हैं। तन से करे उसमें शरीर की मेहनत है, मानसिक परिश्रम है सो मन की मेहनत है और धन भी अर्पण करते हैं, फिर भी आत्मकल्याण क्यों नहीं होता ? (क्योंकि) शुद्ध चित्त नहीं है। जहाँ चित्त की शुद्धता नहीं होती वहाँ आत्मा अर्पण नहीं किया, कुछ और अर्पण किया है। यद्यपि अर्पणता का सम्यक् प्रकार तो ऐसा है कि तन-मन-धन तो परद्रव्य हैं, अन्य द्रव्य हैं, जड द्रव्य हैं, आत्मा का उस पर लेने-देने का कोई अधिकार नहीं है। आत्मा उसे ग्रहण-त्याग कर सके, यह उसके अधिकार से बाहर है। यह (बात) गांधीजी को लिखे गये पत्र में आ गई कि आत्मा स्वभाव से स्वभावपरिणाम का कर्ता है, परद्रव्य का - अन्य परिणाम का कर्ता नहीं। इसके बावजूद भी कर्ता माने तो वह अज्ञानभाव है। यह वास्तविकता होने पर भी उसका ममत्व छोड़ने के हेतुपूर्वक, पूर्व प्रारब्ध योग से जो भी संयोग हैं, उन संयोगों में जो ममत्व

वर्तता है, उस ममत्व को कम करने के लिए, उसका अभाव करने के लिए उसका त्याग किया जाता है। उसका दान दिया जाये - वह प्रकार सम्यक् है। लेकिन ममत्व उतना का उतना रखते हुए संपत्ति का अमुक अंश, पूरी-पूरी तो इस काल में कोई नहीं देता, परंतु संपत्ति का अमुक अंश एक प्रतिशत, दो प्रतिशत, पाँच प्रतिशत दस प्रतिशत, बीस प्रतिशत, पचीस प्रतिशत - जितना भी Maximum छोड़ सके इतना, ममत्व यूँ का यूँ रखकर देने में आता है। 'मेरे पैसे थे, उसमें से मैंने दिये !' अपनत्व रखकर जो दिया गया - वह सम्यक् प्रकार नहीं है। वह प्रकार सही नहीं है। बाहर से लोगों को लगे कि अर्पणता काफ़ी है, समर्पण बहुत अच्छा है।

यहाँ आनंदघनजी ऐसा कहते हैं कि समर्पण अच्छा है लेकिन क्या आत्मा अर्पण किया ? तन-मन-धन से हमें मतलब नहीं है। यदि आत्म-अर्पणता न हो तो उस तन-मन-धन की अर्पणता सच्ची नहीं, झूठी है, कपटभाव सहित है, वृथा है और उससे आत्मलाभ नहीं होता। आत्मलाभ जो होना चाहिए या आत्मकल्याण का लाभ जो होना चाहिए वह लाभ नहीं होता। अगर आत्मा अर्पण करे तो Total surrendership हो जाये। Unconditional - मेरी कोई शर्त नहीं। तब कुछ आत्मकल्याण होने का अवकाश है। ऐसे प्रकार को 'शुद्ध चित्त' या 'शुद्ध अंतःकरण' कहा जाता है।

प्रश्न :- आत्म-अर्पणता माने क्या ?

समाधान :- उसका अर्थ करते हैं। 'इसलिए जगत के सभी भावों से विराम प्राप्त करके....' आत्मार्पण माने क्या ? कि जगत प्रत्ययी सर्व भावों से विराम प्राप्त करके '....वृत्ति को शुद्ध चैतन्य भावयुक्त करने से ही उस वृत्ति में अन्यभाव न रहने से....' वृत्ति में शुद्ध चैतन्यभाव आने से अन्यभाव का अभाव होना '....शुद्ध कही

जाती है और वह निष्कपट कही जाती है। ऐसी चैतन्यवृत्ति भगवान में लीन की जाये वही आत्मार्पणता कही जाती है। यह Positive side से बात की है। इसकी Negative side यह है कि तमाम संसारी जीवों को आत्मा की तो खबर नहीं, वह आत्मार्पणता क्या करेगा ? आत्मा कैसा है ? यह खुद जानता ही नहीं। भान तो भूला हुआ है। फिर तो अभी उसका आत्मा किसे कहना ? कि, उसका जो प्रकृति स्वभाव है वही (उसका) आत्मा है। तन-मन-धन दे देगा परंतु प्रकृति नहीं छोड़ेगा ! क्योंकि उसमें आत्मार्पणता करनी पड़ती है। तन-मन-धन देकर फ़कीर हो जायेगा (लेकिन) प्रकृति नहीं छोड़ेगा। जब कि सच्ची भक्ति का फल पहले आना चाहिए - प्रकृति छोड़ने में। प्रकृति पर प्रहार होना चाहिए। प्रकृति स्वभाव कमजोर हो जाये। इतना ही नहीं जिसके साथ अधिक संपर्क हो उसे पता चल जाये कि, इस जीव में कोई फ़र्क आ गया लगता है। लगे जैसे जीव बदल गया। जैसे यह पहलेवाला जीव नहीं, जीव ही कोई दूसरा है ! ऐसा लगे। हमारी गुजराती भाषा में कहावत है 'प्राण अने प्रकृति साथे जाय छे' ऐसा कहा जाता है। परंतु नहीं, यह एक ऐसा अलौकिक मार्ग है कि, यहाँ प्रकृति पहले छूटती है। प्रकृति पर सीधा असर आता है। तब उसकी आत्मार्पणता होगी। तब वह स्वच्छंद छोड़कर स्वच्छंदनिरोध भक्ति को प्राप्त होगा। आप्तपुरुष के वचन की प्रतीति आयेगी, उनकी आज्ञा की (अपूर्व) रुचि उत्पन्न होगी या सर्वस्वरूप से सत्पुरुष के प्रति सर्वार्पणबुद्धि से प्रवर्तन होगा। तो इस बारे में 'कृपालुदेव' ७५१ पत्र में कहते हैं कि उसको पहला समकित हुआ।

'स्वच्छंद मत आग्रह तजी, वर्त सद्गुरुलक्ष।

समकित तेने भाखियुं, कारण गणी प्रत्यक्ष।।१७।।'

(आत्मसिद्धि शास्त्र, गाथा - १७)

आत्मसिद्धिशास्त्र में तीन प्रकार के समकित उपदिष्ट हैं, उसमें यह पहले समकित का प्रकार है। उसे समकित का कारण जानकर, सिर्फ कारण नहीं (अपितु) समकित का प्रत्यक्ष कारण जानकर ! कितनी ठोस बात की है !! **'कारण गणी प्रत्यक्ष..'** (ऐसा कहा है)। समकित का प्रत्यक्ष कारण जानकर, उसे समकित कहा गया है। कारण में कार्य का उपचार करके उसे समकित कहा है। वह जीव पंद्रह भव के अंदर-अंदर मुक्ति को पा लेगा। समकित तो पहले ही पा लेगा, किन्तु मुक्ति भी पा लेगा। उसका निवेड़ा हो जाएगा। निर्वाणपद को प्राप्त हो जाये ऐसी निर्वाणपद तक की संधि यहाँ आत्मसिद्धि में कर दी है। इसकी नीव क्या है ? कि सत्पुरुष की पहचान से तथारूप परिणाम होते हैं। ७५१ पत्र में जो पहली पंक्ति है, उसमें सत्पुरुष की पहचान के साथ आनुसंगिक परिणामों का निर्देश है। पत्र ७५१ - **'१. आप्तपुरुष के वचन की प्रतीतिरूप, आज्ञा की अपूर्व रुचिरूप..'** सिर्फ रुचिरूप (नहीं लिया) एक विशेषण और (इस्तेमाल) किया है। **'आज्ञा की अपूर्व रुचिरूप, स्वच्छंदनिरोधता से आप्तपुरुष की भक्तिरूप, यह समकित का पहला प्रकार है।'** यहाँ से सम्यक्त्व की नीव तैयार हुई। निर्विकल्प परमार्थ अनुभव रूप जो सम्यग्दर्शन है, समकित है, परमार्थ से जो वास्तविक सम्यग्दर्शन है उसकी नीव यहाँ है। यह समकित मोक्ष का मूल है - निर्वाणपद का मूल है। कृपालुदेव मूल के मूल तक गये हैं।

जिनागम में यह बात तो प्रसिद्ध है कि मोक्ष का मूल सम्यग्दर्शन है, या धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। - **'दंसण मूलो धम्मो'** कुंदकुंदाचार्यदेव ने अष्टपाहुड में यह सूत्र दिया है कि **'दंसण मूलो'**

धम्मो सम्यग्दर्शन धर्म का मूल है। लेकिन सम्यग्दर्शन कैसे प्राप्त करना ? मिथ्यात्वदशा में सर्वप्रथम क्या होना चाहिए ? तो कहते हैं कि, ज्यादा कुछ नहीं हो सके तो इतना तो होना ही चाहिए।

मुमुक्षु :- आज्ञा की अपूर्वरुचि माने क्या ?

पूज्य भाईश्री : आज्ञा की अपूर्वरुचि का मतलब वैसी रुचि पहले कभी न हुई हो, पूर्व में ऐसी रुचि न हुई हो - यह सामान्य शब्दार्थ है परंतु अपने भाव में इसकी अपूर्वता भासित होनी चाहिए। संसार के किसी भी पदार्थ के प्रति व अपने देहादि संयोगों के प्रति भी ऐसी रुचि कभी नहीं हुई। भोगोपभोग के प्रति भी ऐसी रुचि कभी नहीं हुई हो। यानी इससे विशेष प्रकार की - विशिष्ट रुचि को अपूर्वरुचि कहते हैं। रुचि बिना का कोई जीव नहीं है। सभी जीवों को रुचि की पर्याय है, परंतु यह रुचि शरीर और शरीर के अनुकूल संयोग व भोगोपभोग आदि बाह्य पदार्थों के प्रति है। यह पूर्वानुपूर्व ऐसे चली आ रही है। जब किसी भगवान(रूप) पुरुष जैसे सत्पुरुष की पहचान होती है तब उस जीव को कोई अपूर्व रुचि उत्पन्न होती है। उनकी आज्ञा संबंधित अपूर्वरुचि उत्पन्न होती है, यहाँ ऐसा कहना चाहते हैं। उनकी आज्ञा अब निष्फल नहीं जाएगी। जो भी आज्ञा होगी जो भी उनका विकल्प होगा, (क्योंकि) उसके लिए सब आज्ञा ही है। (आज्ञा को) गिरने नहीं देगा, उठा लेगा, उसे शिरसाबंध जानेगा। (सत्पुरुष की) पहचानपूर्वक के परिणाम ऐसे होते हैं। इसे सम्यग्दर्शन की नीव की भी नीव - शिलान्यासविधि (कहने में आता है)। सम्यग्दर्शन की भी शिलान्यासविधि कृपालुदेव ने यहाँ की है। देखिये, ठीक ! इस पर पूरी चुनाई होगी। यह नहीं होगा तो सारी चुनाई ढेर हो जाएगी, ऐसा समझ लेना। यदि ऐसा न हुआ तो जितनी चुनाई की होगी, सारी ढेर हो जाएगी -

गिर जाएगी। वह चुनाई रेत के ढेर पर हुई है। रेत के ढेर पर मकान बनाया जाये तो कितने दिन टिक पाएगा ? नहीं टिक सकेगा। चुनाई दौरान ही गिर जाएगा। और ऐसा अनुभव सबको होता है कि, स्वाध्याय में बैठते हैं या भक्ति में बैठते हैं तब परिणाम कुछ ठीक रहते हैं लेकिन जैसे ही वहाँ से निकलते हैं सब बदलने लगता है। क्यों ऐसा हुआ ? क्योंकि चुनाई ठीक से नहीं हुई। उसकी नीव ही नहीं है। (अतः कृपालुदेव ने) यहाँ एकदम नीव की बात की है।

यह प्रथम पंक्ति में ही बहुत महत्वपूर्ण बात कर दी है। कृष्णदासभाई ने जो भी विनंती की थी वह शुद्ध अंतःकरणपूर्वक की थी। बस ! यह अंतःकरण यदि शुद्ध हो तो जीव को परिभ्रमण से मुक्त होने की भावना - इच्छा भी दृढ़तापूर्वक आती है। दृढ़ मोक्षेच्छा उत्पन्न होती है। यानी कि सर्व प्रथम पूर्णता का लक्ष्य बंधता है। अंतःकरण की शुद्धि हुए बिना लक्ष्य नहीं बंधता। जब तक 'एक मात्र मोक्ष अभिलाष' रूप परिणाम की स्थिति में जीव नहीं आता है तब तक उस जीव को मुमुक्षुता प्रगट नहीं हुई। नामधारी मुमुक्षु भले ही कहलाता हो। जैसे नामधारी साधु होते हैं, वैसे नामधारी, वेषधारी मुमुक्षु भी होते हैं। परंतु (वास्तवमें) दृढ़ मोक्षेच्छा हुए बिना उस जीव को मुमुक्षुता प्रगट नहीं हुई, यथार्थरूप से मुमुक्षु के योग्य उसके परिणाम नहीं होते। (मुमुक्षुता के योग्य) कुछ एक परिणाम होते हैं परंतु वे यथार्थ नहीं होते। इसका कोई फल नहीं आता, वृथा ही है। इतना ही नहीं काफ़ी जीव तो इसमें से संसारवृद्धि भी कर लेते हैं। ऐसा भी संभव है। अतः इस पंक्ति का स्वाध्याय करते हुए, कृपालुदेव के इस वचन का स्वाध्याय करते हुए हमें अपने अंतःकरण की जाँच करनी होगी।

कृष्णदासभाई को ये पत्र मिले थे और सद्भाग्य वशात् हमें भी ये पत्र मिले हैं, ऐसा ही समझना चाहिए। हम कृष्णदासभाई के स्थान में हमारा अंतःकरण शुद्ध करके आगे बढ़ें। सिर्फ पढ़ लें, विचार कर लें, शब्दार्थ कर लें या थोड़ा उस पर चिंतन कर लें यह पर्याप्त नहीं है। अंतःकरण शुद्ध नहीं होगा तो कोई फायदा नहीं होगा। क्योंकि उसका विषय तो अंतःकरण की शुद्धि है, चित्तशुद्धि है। 'मुझे सचमुच छूट ही जाना है,' यह अभिप्राय की प्रमाणिकता है। आगे भी स्वयं एक पत्र में कह गये हैं कि अगर जीव को छूटना ही हो तो उसे बाँधनेवाला कोई नहीं है। जीव यदि खुद मुक्त होना चाहता है तो उसे कोई नहीं बाँध सकता। लेकिन खुद ही बाँधना चाहता हो उसे छुड़ानेवाला कोई नहीं है। तीर्थंकर भी उसको नहीं छुड़ा सकते। क्योंकि हम भी परिभ्रमण करते-करते तीर्थंकर के समवसरण में अनंतबार जा चुके, लेकिन मलिन अंतःकरण के साथ। शुद्ध अंतःकरणपूर्वक एक बार भी किसी भी प्रकार के साधन की आराधना इस जीवने नहीं की। जिसका सबूत है हमारा वर्तमान परिभ्रमण ! यहाँ अभी जो हम बैठे हैं यह सूचित करता है कि पूरा भूतकाल वृथा गँवाया है। (इस तरह) प्रथम वचन में ही बहुत महत्वपूर्ण बात कर दी है।

'सब परमार्थ के साधनों में परम साधन सत्संग है,... सत्संग के विषय में तो कृपालुदेव ने ६०९ नंबर का एक पत्र ही पूरा लिखा है। काफ़ी बातें लिखी हैं। वह पत्र स्वाध्याय में लेना हो तो चार-पाँच घंटे लग जाये, ऐसा पत्र है। परंतु यहाँ एक ही पंक्ति में पूरा Total लगा दिया है। परमार्थ माने आत्मकल्याण, यानी कि आत्मा का परम प्रयोजन, आत्मकल्याणरूप परम प्रयोजन जो है। इस परम प्रयोजन संबंधित अनेक बाह्य साधनों का निर्देश जिनागम

में है। जिसमें सत्संग है वह परम साधन है। वहाँ अल्पविराम है (अब आगे लिखते हैं,) सत्संग माने क्या ? **'...सत्पुरुष के चरण के समीप का निवास है।'** सत्पुरुष के चरण समीप में निवास करना, ऐसे सत्संग को परम सत्संग भी कहा जाता है। सत्संग नहीं अपितु परम सत्संग कहा है। वह आत्मकल्याण का उत्कृष्ट साधन है। परम साधन का अर्थ है उत्कृष्ट साधन। उस साधन को गौण करके किसी दूसरे साधन को अपनाना, ग्रहण करना, उसमें समय और शक्ति व्यतीत करना, यह जीव का स्वच्छंद है या वह आज्ञा का उल्लंघन है। स्वच्छंद है मतलब यह जीव आज्ञा पर पैर रखकर चलता है। किसकी आज्ञा है यह ? जिनाज्ञा है, परमगुरु की आज्ञा है, श्रीगुरु की आज्ञा है, आप्तपुरुष की आज्ञा है - सब की एक ही आज्ञा है। भगवान की आज्ञा कुछ और व सत्पुरुष की कुछ और ऐसा नहीं है। तीनों काल के ज्ञानियों का एक ही मत होता है। किसी के दो मत होते ही नहीं। एक अज्ञानी के अपने अनंत मत भले ही हो, परंतु तीनों काल अनंत ज्ञानियों का एक ही मत होता है। अब उनकी आज्ञा पर पैर रखकर चलना हो तो उसका दंड भी भोगना पड़ेगा, यह कुदरत की व्यवस्था है। कर्म के परमाणु किसी की शरम नहीं रखते।

प्रश्न :- सत्पुरुष के चरण समीप का निवास माने क्या ?

समाधान :- सत्पुरुष के चरण समीप का निवास अर्थात् सत्पुरुष के सत्संग में रहकर भाव से समीपता करना। क्षेत्र समीपता से बात पूरी नहीं हो जाती। क्योंकि कइयों को ऐसा पुण्य योग हो तो क्षेत्र समीपता में रह भी जाते हैं। परंतु यदि भावसमीपता न हुई तो ऐसी क्षेत्रसमीपता वृथा है। ऐसा तो अनंत बार हो चुका है। ऐसा भी अनंत बार हो चुका है कि क्षेत्रसमीपता मिली लेकिन

भाव से दूर रह गया। अब भाव से समीप जाना इसका मतलब क्या ? ऐसा प्रश्न शायद आपको होगा कि, भाव से समीप जाना माने क्या ? (कि) ऐक्यभाव को साधना। - 'पराभक्ति' !! पत्र - २०१ को शीर्षक दिया है न ! 'सर्वथा निर्विकार होनेपर भी परब्रह्म प्रेममय पराभक्ति के वश है, इसका जिन्होंने हृदय में अनुभव किया है, ऐसे ज्ञानियों की गुप्त शिक्षा है।' ज्ञानियों के हृदय की यह गुप्त शिक्षा है। अगर यह निर्विकार परब्रह्म भी पराभक्ति के वश होता हो, फिर सत्पुरुष इसके वश न हो, यह कैसे संभव है ? सत्पुरुष तो उसके वश होंगे, होंगे और जरूर होंगे। और यदि सत्पुरुष मुमुक्षु के वश हुए, तो फिर इनकी कृपा में कौन-सी क्षति रही ? इसलिए कह दिया कि 'सत्पुरुष की कृपादृष्टि वही सम्यग्दर्शन है।' एक जगह ऐसी बात की है। 'पवित्र पुरुषों की कृपादृष्टि वही सम्यग्दर्शन है।' फिर सम्यग्दर्शन कोई दूर नहीं रहा ! परंतु इतनी हद तक खुद की तैयारी होनी चाहिए। जब तक खुद की तैयारी न हो, तब तक बाह्य साधन, बाह्य संयोग, शास्त्र या सत्पुरुष या भगवान कोई भी क्या कर सकता है ? भगवान भी क्या करें उसका ?

श्रोता :- 'ऐक्यभाव' को थोड़ा अधिक स्पष्ट करेंगे ?

पूज्य भाईश्री :- 'ऐक्यभाव' ! ऐक्यभाव का अर्थ है अंतर न रहना - कोई गिनती न रहना। यह मेरा और यह आपका - ऐसी बात छूट जाती है। दो के बीच अंतर न रहे उसे ऐक्यभाव कहते हैं। क्या ? ऐसा ऐक्यभाव जिसने साध्य किया उसे मोक्षमार्ग अति निकट है। २२३ पत्र में ऐसा शब्द इस्तेमाल किया है कि ऐसे जीव को मोक्षमार्ग अति निकट है। सिर्फ निकट है ऐसा नहीं लिखा परंतु अति निकट है, ऐसा लिखा है। चाहे कभी भी लेकिन वैसी

स्थिति में (हमें) आना होगा।

पत्रांक - १७२ में तो इस बात पर कितना विशेष ज़ोर देते हैं ! 'यह ज्ञानियों द्वारा हृदय में स्थापित, निर्वाण के लिए मान्य रखने योग्य, श्रद्धा करने योग्य, वारंवार चिंतन करने योग्य, प्रतिक्षण और प्रति समय उसमें लीन होने योग्य....' भान भूलकर...! ऐसा कहते हैं। '....परम रहस्य है। और यही सर्व शास्त्रों का, सर्व संतों के हृदय का और ईश्वर के घर का मर्म पाने का महामार्ग है।' महामार्ग माने Highway है। एक बार इस Highway को पकड़ लेना चाहिए। फिर देखो Highway पर गाड़ी क्या Speed पकड़ती है। इसके पहले Speed नहीं पकड़ सकेगी। पुरुषार्थ चलेगा ही नहीं। भीतरमें से ज़ोर नहीं आएगा। संवेग उत्पन्न नहीं होगा। 'और इन सबका कारण किसी विद्यमान सत्पुरुष की प्राप्ति और उसके प्रति अविचल श्रद्धा है।' '...सर्वकाल यही कहने के लिए जीने के इच्छुक रायचंद की वंदना।' कितना ज़ोर दिया है देखो ! दस्तखत करते वक्त फिर से इतना ज़ोर दिया !

श्रोता :- विद्यमान माने क्या ?

पूज्य भाईश्री :- विद्यमान का अर्थ है बिराजमान सजीवनमूर्ति !! प्रत्यक्ष बिराजमान सजीवनमूर्ति !! उनके प्रति अविचल श्रद्धा, उसकी प्राप्ति माने उनका योग मिलना, और उनके प्रति अविचल श्रद्धा होना, यह सब का मूल है। सब का मूल यही है। पत्रांक - ७५१ में कहा हुआ पहला समकित यह है।

श्रोता :- सत्पुरुष में लीन होना इसका मतलब क्या ?

पूज्य भाईश्री :- लीन होने का अर्थ है, इनके प्रति इतना भक्तिभाव आना, इतना भक्तिभाव आना कि खुद का अस्तित्व भूल जाये। मैं कौन हूँ ? यह भूल जाये, ठीक ! इसलिए तो गोपियों का दृष्टांत

दिया कि नहीं ! उनके जैसी (गोपियों जैसी) आत्मवृत्ति का उत्पन्न होना। ऐसी आत्मवृत्ति उत्पन्न हो जाये कि मैं मनुष्य हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं ऐसा हूँ, मैं ऐसी हूँ, यह सब कुछ भूल जाये। कर्म जनित सभी पर्यायें विस्मृत हो जाये, ऐसी परमप्रेमरूप भक्ति प्रगट हो, तब उसे मोक्षमार्ग निकट है। फिर उसे संसार नहीं रहा। वैसे तो संसार सागर बहुत बड़ा है, तैरना मुश्किल पड़े ऐसा समुद्र है, परंतु यहाँ तो वह समुद्र ही पूरा सूख जाता है। मीरांबाई ने गाया कि नहीं ! 'भवसागर सब सूख गया है, फिकर गई मोहे तरनन की' समुद्र में पानी ही नहीं रहा, समुद्र तो सूख ही गया, वहाँ तो पूरा मैदान हो गया, अब मुझे तैरना ही कहाँ है ?

'सब परमार्थ के साधनों में परम साधन सत्संग है, सत्पुरुष के चरण के समीप का निवास है।' यहाँ निवास कहा उसमें इतना भरा है ! पराभक्ति की चरमसीमा तक जाना है ! **'सर्वकाल में उसकी दुर्लभता है,...** एक तो प्रगट सत्पुरुष की प्राप्ति होना दुर्लभ है, चतुर्थ काल में दुर्लभ है तो पंचम काल में तो अत्यंत दुर्लभ होगी यह तो सहज ही समझ सके, सहज ही समझ में आये ऐसी बात है। (इसलिये यहाँ ऐसा कहा कि) **'सर्वकाल में उसकी दुर्लभता है; और ऐसे विषम काल में उसकी अत्यंत दुर्लभता ज्ञानीपुरुषों ने जानी है।'** (ऐसा ही) देखा है, अनुभव किया है कि, अभी तो इसकी दुर्लभता ही हो यह समझना बहुत आसान है, ऐसी बात है।

अब यहाँ से आगे विभिन्न विषय पर जो पोस्टकार्ड लिखे हैं, वह शुरू होता है। आठ पोस्टकार्ड लिखे हैं। एक साथ धारावाहीरूप से लिखे गये हैं। इसकी पार्श्वभूमिका - Back ground के बारे में भी थोड़ा विचार करने जैसा है। कृपालुदेव की आत्मवृत्ति शुरू

से ही इतनी आत्मलीनतापूर्ण रही है कि पत्रों का प्रत्युत्तर देना उन्हें मुश्किल पड़ता था। कुछ एक मुमुक्षुओं को अमुक पत्रों का प्रत्युत्तर नहीं भी दे पाये हैं, जबकि कुछ एक को बहुत संक्षेप में (प्रत्युत्तर) दिया है, कुछ एक को लिखते-लिखते पत्र अधूरे रह गये हैं। पत्र पूरा नहीं कर सके। पत्र लिखने में उनका उपयोग लगता नहीं था, चलता नहीं था। २५-२६ वर्ष के दौरान तो यह स्थिति स्पष्ट दिखाई देती है। परंतु इसी २६ वें वर्ष में जब एक साथ आठ पोस्टकार्ड लिखने की वृत्ति चल गई है तो अगले जीव की पात्रता कैसी होगी !! यह हिसाब लगाने जैसा है। और यह पात्रता उन्होंने कहाँ देखी? शुद्ध अंतःकरण में देखी है। अहो...! यह जीव अंतःकरण की शुद्धिपूर्वक समीप आया है !! भले ही पत्र से समीप आया हो। अंतःकरण शुद्ध हो तो ज्ञानीपुरुष अपना कलेजा दे दें, यह इस पत्र से सूचित होता है। अंतःकरण मलिन दिखे तो मौन रह जाते हैं, वृत्ति-संक्षेप हो जाती है। वे अपने रास्ते पर आगे निकल जाते हैं, विशेष कुछ नहीं कहते। विशेष शायद नहीं भी कहे, तो भी ऐसे जीव के लिए तो कहना, नहीं कहना सब एक समान है। अंतःकरण की मलिनता हो फिर वहाँ कहे तो भी ठीक और नहीं कहे तो भी ठीक ! क्योंकि वह कहना व्यर्थ है इसलिए प्रायः कुछ नहीं कहते। अंत में लिखा है - **‘आज यह आठवाँ पत्र लिखते हैं। वे सब आप सभी जिज्ञासुभाइयों के वारंवार विचार करने के लिए लिखे गये हैं।’** खंभात में और भी कुछ मुमुक्षु थे, उन सबके विचार हेतु ऐसी बहुत सी बातें पत्र में आयी हैं। **‘चित्त ऐसे उदयवाला कभी ही रहता है।’** हमारा ‘चित्त’ अर्थात् हमारा विकल्प - ऐसे यहाँ लेना, (हमारा चित्त) कभी ऐसे उदय में वर्तता है, सहज वर्तता है। किसी का अंतःकरण शुद्ध

देखते हैं तो परमार्थ विषय कभी-कभी निकल जाता है। ऐसा विकल्प वर्तता है - आत्मा नहीं वर्तता, ठीक ! आत्मा तो उस विकल्प से भी भिन्न है।

ज्ञानीपुरुष की सविकल्पदशा की यह एक अलौकिक स्थिति है - कि जिसमें विकल्प उदय के साथ और आत्मपरिणाम आत्मा के साथ रहता है !! उदय के परिणाम बाह्य उदय के साथ विकल्परूप होते हैं। जब कि भीतर में जो परमात्मतत्त्व है, निज सहजात्मस्वरूप है उसके साथ अभेद अंतर परिणति आत्मारूप होकर वर्तती है। एक बहिर्मुख भाव है और एक अंतर्मुख भाव है। जब उनके बहिर्मुखभाव की प्रसादी में इतना भरा है तो उनके अंतर्मुखभाव का तो क्या कहना ?! वचनातीत है !! जिनके बहिर्मुख अंशमें से इतनी प्रसादी मिले कि दूसरा (जीव) तिर जाये ! कितना निमित्ततत्त्व रहा है ? कि मुमुक्षुजीव अगर लायक हो तो तिर जाये, उसका निबेड़ा हो जाये। हीरे की रज भी जो घिसते-घिसते खिरती है न ! उसका तोल भी कैरट में किया जाता है हं ! उसे सोने की तरह तोले में या लोहे की तरह किलोग्राम में नहीं तोला जाता। उसे (हीरे की रज को) भी कैरट में तोला जाता है। क्योंकि वह हीरे की रज है। वैसे यहाँ इनके विकल्प भी चैतन्यहीरे की रज हैं। भीतर में उसकी जाति वह है कि दूसरा तिर जाये ! तो इनकी आत्मपरिणति की कथनी कैसे करें ? उसकी तो बात ही न हो सके ऐसा विषय है।

'चित्त ऐसे उदयवाला कभी ही रहता है। आज अनुक्रम से वैसा उदय होने से,...' ऐसा उदय होने से 'उस उदय के अनुसार लिखा है।' हम तो कहीं और जगह है। यह उदय का स्थान अलग है। वैसे लिख तो रहे हैं एकदम परमार्थ का विषय, लिखने

का उदय वर्तता है फिर भी उदय अनुसार उस क्रम में लिख दिया तो लिख दिया, नहीं लिख पाए तो नहीं लिखा। यदि नहीं लिखा जाये तो हम बलात्कार से लिखते नहीं और यदि सहज लिखना हो गया तो बलात्कार से उसे बंद भी नहीं करते। सहज वृत्ति इस तरह काम करती है। क्योंकि वह (विकल्प) स्वतंत्ररूप से चलता है। हम भीतर में हमारे रास्ते पर चल रहे हैं। उस पर हमारे सम्यग्ज्ञान का Control है। इसलिए उदय के परिणाम Control बाहर जाये, ऐसा नहीं बनता। खैर ! Control बाहर जाने का तो सवाल ही नहीं परंतु ज्ञानीपुरुषों को कोई विशिष्ट पात्र जीव को आत्मकल्याण में निमित्तभूत हो जाये वैसा उदय (स्वयं) अपने रास्ते पर - मोक्षमार्ग में चलने के साथ-साथ होता है। यह उनका स्व-पर कल्याणक जीवन है। उनका जीवन जो है वह स्व-पर कल्याणक होता है।

अब आगे, ज्ञानीपुरुष की वृत्ति कैसी होती है ? (ज्ञानीपुरुष) पूर्व प्रारब्ध योग से चाहे कैसे भी संयोग-वियोग में किस प्रकार वर्तते हैं इसकी बहुत सुंदर चर्चा पहले पत्र में की है। **‘ज्ञानीपुरुषों की प्रवृत्ति प्रवृत्ति जैसी नहीं होती।’** (ज्ञानीपुरुषों की) प्रवृत्ति संसारियों जैसी दिखती हो तो भी दूसरे संसारियों की जैसी उनकी प्रवृत्ति नहीं होती। दृष्टांत देते हैं। **‘जैसे गरम पानी में अग्नि का मुख्य गुण नहीं कहा जा सकता,...’** अग्नि भी उष्ण होती है, पानी भी उष्ण होता है, लेकिन अग्नि का मुख्य गुण जलाने का है, जब कि पानी जलाता नहीं। गरम-गरम उबलता हुआ पानी हो, उसे लकड़ी पर डालने से लकड़ी जलेगी क्या ? नहीं जलेगी। इतना ही नहीं उसे अग्नि पर डाला जाये तो अग्नि का कीचड़ हो जायेगा, अग्नि को वह शांत कर डालेगा। क्योंकि उसका - पानी का मुख्य

गुण जलाने का नहीं है, मुख्य गुण ठंडा करने का है। 'जैसे गरम पानी में अग्नि का मुख्य गुण नहीं कहा जा सकता, वैसे ज्ञानी की प्रवृत्ति है;...' ज्ञानी की प्रवृत्ति वैसी है। यानी कि जगत के जीवों की सांसारिक प्रवृत्ति संसार बढ़ाने की है, जबकि ज्ञानी की प्रवृत्ति से संसार तो नहीं बढ़ता, बल्कि जितनी प्रवृत्ति होती है उतना संसार घटता जाता है, पूरा होता जाता है। बढ़ता तो नहीं उलटा घटता जाता है। 'तथापि ज्ञानीपुरुष भी किसी प्रकार से भी निवृत्ति को चाहते हैं।' फिर भी उनके परिणाम प्रवृत्ति को नहीं चाहते। प्रवृत्ति में उनकी रुचि नहीं है, प्रवृत्ति में उन्हें रस नहीं है, प्रवृत्ति में उन्हें लाभ नहीं दिखता, सुख नहीं दिखता, प्रवृत्ति कोई उनका आधारस्तंभ नहीं है कि जो संसारियों को होता है। अतः सहज ही वे प्रवृत्ति का त्याग चाहते हैं, छोड़ना चाहते हैं। कृपालुदेव ने तो युवावस्था के प्रारंभ में निवृत्ति को चाहा है। २४-२५ साल की उम्र में निवृत्ति के विचार प्रगटरूप से उनके पत्र में प्रगट हुए हैं। अभी तो २४-२५ साल तक हमारे यहाँ लड़के लोग पढ़ाई में होते हैं। कुछ लोगों को २५-२७ साल बाद डिग्री मिलती है (बाद में) व्यवसाय में लगते हैं। यहाँ (कृपालुदेव) को पाँच साल हुए हैं व्यवसाय में प्रवेश किये हुए, फिर भी परिणाम बदल गये हैं और निवृत्ति को चाहते हैं। प्रवृत्ति को छोड़ना चाहते हैं। अंदर की वृत्ति कैसी है ! निवृत्ति के लिए उनकी वृत्ति कैसी है !

(यह अब कहते हैं) 'पूर्वकाल में आराधन किये हुए निवृत्ति के क्षेत्र, वन, उपवन, योग, समाधि और सत्संगादि ज्ञानीपुरुष को प्रवृत्ति में रहते हुए वारंवार याद आ जाते हैं।' निवृत्ति की याद आती है। प्रवृत्ति में बैठे-बैठे निवृत्ति का स्मरण आता है। यहाँ तो यह

हाल है, निवृत्ति लेकर कहीं गये हो तो वहाँ दुकान की याद आती है, कुछ न कुछ याद आ जाता है कि, जैसे यह काम रह गया, वह काम रह गया, इसमें ऐसा करना था, क्योंकि प्लेटफार्म अलग है न ! गलत प्लेटफार्म पर बैठा हो फिर गाड़ी कहाँ से हाथ लगेगी ? उलटे प्लेटफार्म पर बैठा हो, जाना हो जिस दिशा में उससे उलटे प्लेटफार्म पर बैठा हो, जैसे Left-Right का रास्ता तो अलग होता है न ! इसलिए फिर उलटे रास्ते पर चला जाता है। उलटे प्लेटफार्म से उलटे रास्ते पर जाता है। ज्ञानीपुरुष को प्रवृत्ति में निवृत्ति की याद आती है, जब कि साधारण मनुष्य को निवृत्ति के बीच प्रवृत्ति की याद आती है। स्वाध्याय करते-करते कहाँ से कहाँ का विचार आ जाये, एक सेकंड में अमरिका तक पहुँच जाये ! क्या कारण है इसका ? कि वह गलत जगह बैठा है। सही जगह नहीं बैठा। स्वाध्याय करे चाहे निवृत्ति में जाये परंतु वह सही जगह नहीं बैठा।

स्वयं को (कृपालुदेव को) सात साल की उम्र से जातिस्मरण ज्ञान है, इस भव में भूतकाल के काफ़ी आराधन को लेकर आये हैं यह बात साबित करने की जरूरत नहीं है। उनके शुरु-शुरु में, १७ साल के पहले के वचनों में मानो बारह अंग का सार भरा हो, ऐसे प्रगट हुए हैं। कैसे (हैं) ? भगवान गणधरदेव ने दिव्यध्वनि सुनकर अंतर्मुहूर्त में बारह अंग की जो रचना की, उसका सारांश तो उन्होंने १७ साल पहले प्रगट कर दिया है। **‘स्वद्रव्य के धारक शीघ्र हो।’** **‘स्वद्रव्य के रक्षक शीघ्र हो।’** सब बारह अंग के सार जैसे वचन हैं। उस पर पूज्य गुरुदेवश्री (कानजीस्वामी) ने प्रवचन किये हैं। तब १२ अंग का सार इसमें है, ऐसा उन्होंने कहा है। ‘ये वचन बारह अंग का सार है।’ हररोज प्रातःकाल में सुबह चार

बजे उठकर उनका यह स्मरण व चिंतन का विषय था। कुंदकुंदाचार्यदेव की गाथाओं के साथ-साथ ये दस वचन उनके चिंतन का विषय था। यह विषय नित्यक्रम में था। जो कृपालदेव ने १७ वें साल पहले लिखे थे। फिर ये वचन आये कहाँ से ? १७ वें साल के पहले ये वचन आये कहाँ से ? यानी कि वे बहुत पूँजी लेकर आये थे। पूर्वभव की आराधनारूप काफ़ी संपत्ति लेकर यहाँ आये हैं। इसलिए इतनी-सी उम्र में भी बारह अंग का सार निकाल कर दे दिया है। बारह अंग लिखने बैठे तो सारे जंगल की जितनी कलम बनाई जाये, तो भी (कम) पड़े और पूरे सागर की स्याही बनाये तो भी कम पड़े, इतना बारह अंग का विस्तार है ! वह तो लब्धि से ही उत्पन्न होता है। उन्होंने इसका Total - सार रख दिया है।

एक 'त्वरा - (शीघ्र)' शब्द में इतनी बात है। वचन में ज्यादा Highlight कहाँ है ? 'त्वरा' (गुजराती में) शब्द जो है यह संवेग को सूचित करता है। जिसको स्वद्रव्य का रक्षक शीघ्र होना है, ऐसी बात आयी कहाँ से ? दीर्घदृष्टि से उसमें निर्वाणपद दिखता है। बारह अंग का सार इसमें है। यह 'त्वरा' (शीघ्रता) में यह बात है, बारह अंग तो इसके आगे कुछ नहीं, वह तो केवलज्ञान लेगा। यह जीव केवलज्ञान लेगा। संवेग में इतनी बात भरी है। और सत्य भी यही है कि (जीव को) संवेग ही उत्पन्न नहीं होता है, वरना मंद कषाय तो होता है, उसे फिर उपशम गिन लेता है। किसी-किसी को कषायरस भी मंद होता है, तब तो मानो उसे उपशम गिन सकते हैं। कषायरस मंद हो तो उपशम गिनना चाहिए, परंतु मंद कषाय को उपशम नहीं गिना जाता, लेकिन लोग ऐसा मान लेते हैं। शम, संवेग, निर्वेद, आस्था और अनुकंपा ये पाँच

सम्यक्त्व के लक्षण लिये हैं। उसमें उपशम होता है, निर्वेद अर्थात् वैराग्य भी आता है, आस्था (माने) देव, गुरु, शास्त्र व सत्पुरुष के वचनों के प्रति श्रद्धा भी होती है, दूसरे जीवों के प्रति अनुकंपा भी आती है, अपने आत्मा की अनुकंपा आती है परंतु (फिर भी अगर) संवेग नहीं आया तो काम नहीं होता। ऐसे संवेग को सूचित करता हुआ शब्द दसों (वचन में) इस्तेमाल किया है। दसों वचन में 'त्वर' (शीघ्र) यह शब्द Common (सामान्य) है। 'शीघ्र हो ! शीघ्र हो !' (सिर्फ) हो जाओ (उतना नहीं) कहा परंतु शीघ्र हो, अभी ही। कल नहीं, अभी ही। भीतर से जो संवेग आता है, वह मुमुक्षु की भूमिका का एक असाधारण लक्षण है। संवेग शुरू होता है मुमुक्षु की भूमिका से। और पूर्णता के लक्ष्य से संवेग शुरू होता है। दृढ़ मोक्षेच्छापूर्वक ऐसा संवेग आये तो आगे बढ़े।

'ज्ञानीपुरुष की...' अर्थात् यहाँ अपनी खुद की बात करते हैं। हमें भी पूर्व में आराधन किये गये निवृत्ति क्षेत्र स्मरण में आते हैं। हम जिस वन-उपवन में विचरते थे - त्यागीदशा, मुनिदशा में विचरे होंगे, उस वक्त जो योगादि साधन किये हैं, आत्मध्यान, समाधि आदि किये हैं, ज्ञानियों का, मुनियों का, गुरुओं का सत्संग मिला है। पूर्व में उनको कोई सत्पुरुष मिले हैं, ऐसा निर्देश उन्होंने पत्रांक - १९४ में किया है। 'ज्ञानप्राप्ति इससे हमें हुई थी।' भाव-अप्रतिबद्धता से विचरते हैं ऐसे ज्ञानीपुरुष के चरणारविंद का जो सेवन करते हैं और जिसे उनके प्रति परमप्रेम और अचल प्रीति आती है, तब उसे ज्ञानप्राप्ति होती है ! और हमें भी इससे ज्ञानप्राप्ति हुई थी। 'हुई थी' ऐसे भूतकाल (सूचक) शब्द इस्तेमाल किये हैं। भूतकाल में (ज्ञानप्राप्ति) हुई थी। पूर्व भव में ज्ञानप्राप्ति हुई थी यह भी स्मरण में आता है। वह सत्संग का स्मरण आता है। कहाँ बैठे-बैठे स्मरण

आ रहा है ! मुंबई की झवेरीबाजार की गद्दी पर बैठे-बैठे स्मरण आ रहा है, यही नगरी है। कृपालुदेव के चरणों से पावन हुई यह भूमि है। इस दृष्टि से देखा जाये तो उनके चरणों से पावन हुई यह भूमि है। अभी भी तांबाकांटा पर जो 'भगवान भूवन' है न ! वह हमारे भावनगर के एक दिगंबर जैन का है। (उनका नाम था) भगवानदास छगनलाल सुतरीया। एक दफा मुझे ले गये थे। पहली मंजिल पर एक कमरा दिखाया और कहा इस जगह कृपालुदेव की गद्दी थी, यहाँ बिराजते थे।

प्रश्न :- प्रत्यक्ष सत्पुरुष की विद्यमानता का रहस्य क्या है ?

पूज्य भाईश्री :- इसमें रहस्य ऐसा है कि आत्मा को जो पहला समकित होना चाहिए वह भी विद्यमान सत्पुरुष के बिना प्राप्त नहीं होता, क्योंकि पहचान नहीं होती। दूसरा समकित जो बीजज्ञान का है, वह भी वे ही देते हैं। क्योंकि जो भाव-अप्रतिबद्धता से विचरते हैं उसकी सम्यक्प्रतीति (सत्पुरुष की) विद्यमानता में ही आती है, उनकी विद्यमानता में जब अचल प्रेम आता है तब जीव समकित के योग्य बनता है, समकित के लिए पात्र होता है, मोक्षमार्ग के पात्र बनता है, ऐसा कहना है। (कृपालुदेव) का बहुत जोर है उस पत्र पर, काफ़ी जोर है उनका।

(यहाँ कहते हैं कि) हमें तो इसकी याद आती है, वारंवार याद आती है। 'तथापि ज्ञानी उदयप्राप्त प्रारब्ध का अनुसरण करते हैं।' उदय प्राप्त प्रारब्ध यानी कि यह जो व्यवसायादि की प्रवृत्ति है उसका स्वयं अनुसरण करते हैं। यह विषय ऊपर-ऊपर से - स्थूलरूप से नहीं समझ में आये वैसा है। क्योंकि, सामान्य जीव भी त्याग की प्रशंसा करते हैं, त्याग का अनुसरण करते हैं, त्याग के प्रति झुकते हैं, त्याग का बहुमान करते हैं। जबकि यहाँ प्रवृत्ति

का अनुसरण करना, प्रारब्ध योग अनुसार प्रवृत्ति का अनुसरण करना, उसमें त्याग नहीं रहता। अब त्याग का अनुसरण नहीं करते हुए प्रारब्ध अनुसार प्रवृत्ति का अनुसरण किस प्रकार करते हैं ? यह थोड़ा सूक्ष्म विषय है। ज्ञानीपुरुष भी पूर्वकर्म की निर्जरा विशेषतः कैसे हो, इसकी कला जानते हैं। जिसे शास्त्र में ज्ञानकला कही है ! क्या ? 'ज्ञानकला जिसके घट जागी, ते अंतर मांही सहज वैरागी।' ऐसी ज्ञानकला है। उन्हें पता चल जाता है कि प्रारब्ध का वेदन करते-करते प्रवृत्ति में रहकर भी इस प्रकार विशेष निर्जरा हो सकेगी। भले ही खुद निवृत्ति को चाहते हैं परंतु निवृत्ति की परिस्थिति दिखती नहीं है। इसके तो अंतर-बाह्य बहुत से कारण हैं। इसकी चर्चा अभी तो अप्रस्तुत है परंतु वह गहरा विषय है। जब कोई ज्ञानी त्याग का अनुसरण करते हैं उसवक्त भी उनके ज्ञान की वह गहराई है, इतना ही नहीं पूर्वकर्म के योग को ठीक तरह समझकर वे निवृत्ति में आते हैं। जब तक प्रवृत्ति में रहते हैं तब तक पूर्व-प्रारब्ध को समझकर, प्रवृत्ति में रहकर कर्मों की निर्जरा करके व (चारित्र) मोह को, राग-द्वेष की जड़ को मूलमें से काटते जाते हैं। प्रवृत्ति के कारण ऊपर से पेड़ के पत्ते हरे दिखेंगे परंतु वे इसकी जड़ को काटते जाते हैं। यह विषय बहुत गहराईवाला है। काफ़ी गहरा विषय है, पता तक न चले। (बाहर से देखनेवाले को ऐसा लगे कि) ये तो व्यापार करते हैं। व्यापार तो व्यापार के ढंग से होता है। गृहस्थी, गृहस्थी के ढंग से चलती है। खाना-पीना सब अपने ढंग से होता है, बोलना-चलना अपने ढंग से होता है, तो यह सब कैसे होता होगा ? कि भीतर में जो आराधना करते हैं, उनका पुरुषार्थ जो निरंतर चलता है, उस पुरुषार्थ के कारण कर्म की जो निर्जरा हो रही है वह ऊपर-

ऊपर से भले ही न दिखे परंतु भीतर में बहुत ही बड़ा फेरफार है।

(कृपालुदेव ने) बहुत अल्प आयुष्य में भी केवलज्ञान लेने का पुरुषार्थ किया था, परंतु वस्तुस्थिति अन्यथा थी तो एक भव बाकी रह गया। एक भव से ज्यादा नहीं। पंचम काल में यहाँ क्षायिक समकित होने का तो अभी सवाल नहीं है क्योंकि (क्षायिक समकित) तो केवली के पाद समीप ही होता है। तीर्थकर या केवली के चरण सान्निध्य में क्षायिक समकित की उत्पत्ति होती है। लेकिन फिर भी उसमें बहुतों को बाद में तीन भव होते हैं। कृपालुदेव यहाँ इससे भी आगे गये हैं। इसलिए एक पत्र में कहा है क्षायिक समकित हो चाहे नहीं हो उससे आपको क्या मतलब है ? यदि एक भव में मुक्ति में जाये तो यह क्षायिक समकित से आगे का समकित हुआ कि नहीं !! हिसाब तो कीजिए। एक से तीन तक की गिनती समझ में नहीं आती है आपको ? यह तो पहली कक्षावाले को समझ में आये ऐसी बात है। और अगर ऐसी आराधना नहीं हो सकती ऐसा माने तो यह तो इस काल में हम नहीं हैं ऐसा कहने के बराबर है ! कितना ठोसपना ! दृढ़ता ! व प्रतीति है कि जिसमें कहते हैं कि हमें दूसरा भव नहीं है। निर्वाणपद हमारे बहुत समीप है। इसकी कोई चिंता नहीं ! भीतर में आराधना चलती है। क्यों चिंता नहीं है ? क्योंकि भीतर में जो Speed - (संवेग) है, उनके पुरुषार्थ का जो ज़ोर है यह सूचित करता है कि अब (मोक्ष) विशेष दूर नहीं है।

प्रश्न :- ज्ञानी के पास तो ज्ञानकला होती है जिससे वे प्रवृत्ति में भी निर्जरा करते हैं परंतु मुमुक्षु के पास तो ज्ञानकला है नहीं तो मुमुक्षु को क्या करना ?

पूज्य भार्गवी :- एक वाक्य में कहना हो तो, मुमुक्षु को ज्ञानी की आज्ञा में चलना चाहिए, फिर सब समझ में आ जाएगा। स्वच्छंद का त्याग करके सौभाग्यभाई ने जो काम किया वह कर लेना है। लम्बी-लम्बी बातें समझ में न आती हो या अधिक शास्त्राभ्यास के झमेले में नहीं पड़ना हो तो (ज्ञानी की आज्ञा में चलना चाहिए)। कृपालुदेव ने सौभाग्यभाई के स्वर्गवास पश्चात् पहला पत्र उनके परिवार पर जो लिखा है - पत्रांक - ७८३ 'श्री सोभाग को नमस्कार। श्री सोभाग की मुमुक्षुदशा तथा ज्ञानी के मार्ग के प्रति उनका अद्भुत निश्चय...' कैसा (निश्चय) ? कि ज्ञानी के मार्ग पर चलना है, बिलकुल स्वच्छंद नहीं करना है। ऐसा अद्भुत निश्चय उन्हें हुआ था। वह हमें 'वारंवार स्मृति में आया करता है।' उनके स्वर्गवास के बाद हमें यह बात याद आती रहती है। ऐसा कहकर दूसरे मुमुक्षुओं के प्रति निर्देश किया है देखिये ! यह एक बात अगर आप में प्रगट हुई तो आगे सब सरल है। वरना चाहे कुछ भी कर लो न ! एक बार इस जगह आने पर ही छुटकारा है। अभी आये चाहे बाद में आये। मैंने आगे पढ़ा नहीं था वरना १७२ पत्र में यही लिखा था कि, 'आज, चाहे तो कल, चाहे तो लाख वर्ष में और चाहे तो उसके बाद में या उससे पहले, यही सूझने पर, यही प्राप्त होने पर छुटकारा है।'

(यहाँ कहते हैं) 'ज्ञानी उदयप्राप्त प्रारब्धका अनुसरण करते हैं। हमें सत्संग की रुचि रहती है, उसका लक्ष्य रहता है, परंतु यहाँ नियमितरूप से वैसा अवकाश नहीं है।' (यानी कि) सत्संग में नियमित रह सके ऐसी उदय प्रारब्ध की परिस्थिति अभी दिखाई नहीं देती। इसलिए यहाँ मुंबई में बैठे-बैठे ये सब पत्र लिख रहे हैं। निवृत्तियोग में तो कभी-कभी आते थे। छब्बीस वें वर्ष में तो (निवृत्ति में) नहीं

आ सके। पौने दो साल तक मुंबई नहीं छोड़ सके। प्रवृत्ति में काफ़ी रहे हैं फिर भी (आत्म)कार्य बहुत किया है। रंचमात्र उदय कम नहीं होता, परंतु अंदर में आराधकदशा बढ़ती गई है। प्रवृत्ति होने से कोई आराधकदशा छूट जाये, यह स्थिति ज्ञानीपुरुषों की नहीं होती। दूसरों का तो परिणाम का ठिकाना न रहे। ज्ञानीपुरुष की बात कोई अलग होती है और यह बात उन्होंने अपने जीवन से प्रगटरूप से सिद्ध कर दी है। यहाँ तक रखते हैं। समय हुआ है।



परिणामका अवलोकन करनेका कहा जाता है। उसमें भी पर्यायबुद्धि दृढ़ हो जाये, ऐसा विपर्यास नहीं होना चाहिए। यह खास ध्यानमें / लक्षमें रखने योग्य है। अवलोकन द्वारा परलक्षका अभाव करानेका हेतु है। तदुपरांत, स्वभावको पहचाननेके लिए ज्ञान निजावलोकनरूप अनुभवमें आनेवाले भावोंका परिचय करके, स्वभावका निर्णय करे, यह हेतु है। परिचयकी प्रक्रिया (Process) निज भावोंके अवलोकनके सिवा, अन्य प्रकारसे नहीं हो सकती। परन्तु सिर्फ परिणामको ही देखते रहनेमें, यदि स्वभावका निश्चय करना छूट गया, तो पर्यायके एकत्वरूप मिथ्यात्व दृढ़ हो जाता है। ऐसा विपर्यास नहीं हो जाये, यह अवलोकनमें प्रवेश करते वक्त ही लक्षमें होना चाहिए। अवलोकन करनेका कहनेमें आये या अन्य कुछ भी करनेकी बात कही हो, (लेकिन) किसी भी पर्यायकी मुख्यता रहनी / होनी नहीं चाहिए। परन्तु (स्वरूप लक्षसे) सहज वैसा हो जाता है - ऐसा समझने योग्य है।

(पूज्य भाईश्री - अनुभव संजीवनी-८१९)

प्रवचन - ६ दि. २९-७-१९९४ - पत्रांक-४४९ (२)

(श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत पत्रांक - ४४९) आठ पोस्टकार्ड के विषयमें से पहले पोस्टकार्ड का विषय पूरा हुआ है। तीसरे पैराग्राफ से दूसरा पोस्टकार्ड चालू होता है। 'कल्याण में प्रतिबंधरूप जो-जो कारण हैं, उनका जीव को वारंवार विचार करना योग्य है; उन-उन कारणों का वारंवार विचार करके दूर करना योग्य है;...' यह (बात) जिसको अपने परिणामों का अवलोकन हो उसकी समझ में आती है कि मेरे आत्मकल्याण में बाधारूप परिणाम कौन-कौन से हैं ? कारणों में यहाँ किसी बाह्य कारण की बात नहीं लेनी है। खुद के ही परिणाम हैं, जो अपना अकल्याण साधते हैं इसलिए वे कल्याण में प्रतिबंधरूप हैं। (कृपालुदेव) आगे उसका विशेष विस्तार करेंगे, परंतु यहाँ तो इतनी ही सूचना दी है कि जो-जो प्रकार के भाव - परिणाम अपने आत्मकल्याण में बाधारूप होते हो, उन-उन कारणों, उन-उन परिणाम संबंधित विशेष विचार करना आवश्यक है। इतना ही नहीं उसका विचार उसे मिटाने के हेतुपूर्वक करना चाहिए। सिर्फ विचार करने के हेतु से विचार नहीं करना है, परंतु उन-उन दोषों के अभाव हेतु उसका विचार करना है। ऐसे हेतुपूर्वक विचार कर्तव्य है। 'और इस मार्ग का अनुसरण किये बिना कल्याण की प्राप्ति नहीं होती।' अपने दोषों के बारे में विचार ही न हो तो आत्मकल्याण कभी नहीं हो सकता, यानी कैसे परिणामों से

मुझे नुकसान होता है, इसकी समझ ही न हो, इसका विचार भी न हो, तो वह नुकसान बंद कैसे होगा ? अतः उसका गहराईपूर्वक विचार होना चाहिए और उन (दोषों के) मिटने का उपाय करना चाहिए। वरना कभी कल्याण नहीं हो सकता। **‘मल, विक्षेप और अज्ञान....’** अब ऐसे कारण या दोष कौन-कौन से हैं ! (यह कहते हैं)। ऐसे कारण जो हैं वे दोष हैं, जो आत्मगुणों को उत्पन्न नहीं होने देते। ऐसे जो दोष हैं उनकी हमें जानकारी ही न हो तो वैसे दोषों को कैसे मिटाना, यह भी कैसे पता चले ? वह भी पता नहीं चलेगा। तीन प्रकार के दोष यहाँ लिए हैं। **‘मल, विक्षेप और अज्ञान ये जीव के अनादि के तीन दोष हैं।’** बहुत सरल भाषा में यह बात कृपालुदेव ने समझायी है। शास्त्रभाषा का प्रयोग नहीं किया। वरना शास्त्रभाषा का प्रयोग किया जाये तो मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरती - या मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र - ये अनादि के तीन दोष हैं।

इसमें मल अर्थात् भावों की मलिनता, भावों में रहा मलिन रस। मिथ्या मान्यता जो है उसके कारण जीव के परिणाम में काफ़ी मल एकत्रित हुआ है। काफ़ी मैल इकट्ठा हुआ है। मिथ्या मान्यता के कारण काफ़ी मलिनता बढ़ती है।

विक्षेप जो है वह भावों में - आत्मपरिणामों में उत्पन्न हुआ Disturbance है। लोग नहीं कहते हैं ? अभी हमारा दिमाग ठिकाने नहीं है। भीतर में बहुत विक्षेप हो गया है। खलबली (मच गई है)। यह चारित्र प्रधान परिणमन का विषय है। आचरण प्रधानता से बात है। **‘अज्ञान अर्थात् विपरीत ज्ञान।’** वस्तु के स्वरूपज्ञान से विपरीत ज्ञान को अज्ञान कहते हैं। विपरीत मान्यता को यहाँ मल कहा है। और इन दोनों के साथ परिणाम में अनेक प्रकार की

आकुलता - बहुत आकुलता सहित राग-द्वेष, मोह के परिणाम का होना, वह आकुलतारूप विक्षेप है। तीव्र रसपूर्वक राग, द्वेष, मोह जब होते हैं तब आकुलता बढ़ जाती है, तब जीव को कहीं भी चैन नहीं पड़ता, अशांति...अशांति, बिना वजह भी अशांति रहा करती है।

‘मल, विक्षेप और अज्ञान ये जीव के अनादि के तीन दोष हैं।’ ये दोष अनादि से हैं। कभी जीव को सम्यक्त्व नहीं हुआ, सम्यक्ज्ञान नहीं हुआ, न तो सम्यक्चारित्र हुआ है। ‘ज्ञानीपुरुषों के वचनों की प्राप्ति होने पर, उनका यथायोग्य विचार होने से अज्ञान की निवृत्ति होती है।’ अब ये तीनमें से पहला कौन-सा छूटता है? इसका क्रम (कहते) हैं। कृपालुदेव के वचनामृत में यह एक विशेषता है कि अनेक जगह उन्होंने क्रम का बोध दिया है। इस विषय में खास करके ८३ वाँ पत्र (लिखा गया है)। ‘क्रम’ यह एक कितनी आवश्यक चीज़ है यह समझाने के लिए ८३ वाँ पत्र लिखा गया है। क्योंकि कोई भी काम होता है वह उसकी सुव्यवस्था के कारण होता है। अव्यवस्था में कोई काम ठीक से तो नहीं होता, परंतु बिगड़ता है।

यहाँ भी जब मल, विक्षेप और अज्ञान मिटाना है तो उसमें प्रथम शुरुआत कहाँ से (करनी)? उसका प्रथम साधन कौन-सा? प्रथम साधन है ज्ञान। यह ज्ञान साधन की प्राप्ति के लिए ज्ञानीपुरुषों के वचनों की प्राप्ति होनी चाहिए। अज्ञान मिटाने के लिए अनुभवी पुरुषों - ज्ञानीपुरुषों के वचन (साधन हैं)। जिन्होंने अनुभव से अज्ञान को मिटाया है, उनके वचनों में यह ज्ञान रहा है। ऐसे वचनों की प्राप्ति होने पर और ‘....उनका यथायोग्य विचार होने से....’ प्राप्ति होना माने क्या? क्योंकि जितने लोगों को पढ़ने मिला उतने

लोगों को प्राप्ति तो हुई, जिसने श्रवण किया उसे भी उन वचनों की प्राप्ति तो हुई, अतः वाचन श्रवण से (प्राप्ति तो हुई) परंतु यदि उसका यथायोग्य विचार नहीं हुआ तो वह प्राप्ति भी अप्राप्ति समान है। उसे फिर प्राप्ति क्या कहना ? यथायोग्य विचार होना मतलब ज्ञानीपुरुषों के वचनमें से मेरे आत्मा को कौन-सा वचन लागू पड़ता है, ऐसे प्रयोजनभूत विचार में आना।

फिर से, ज्ञानीपुरुषों के वचनों में सैकड़ों, हजारों बातें होती हैं। कृपालुदेव (के वचनों) का यह इतना बड़ा ग्रंथ है ! अब उसमें से मेरे आत्मा को कौन-सी बात लागू पड़ती है ? इस तरह यदि आत्मकल्याणार्थ उसका विचार न हुआ तो (आगे कैसे बढ़ा जायेगा ?) बातें तो सभी अच्छी ही हैं ! इसमें कोई बात बुरी तो है नहीं। और अच्छी होने से हमें अच्छी लगती है। अच्छी होने से अच्छी तो लगेगी, परंतु इससे क्या हुआ ? इसमें से कौन-सी बात मेरे आत्मा को लागू पड़ती है ? मेरी वर्तमान स्थिति को लागू पड़ती है ? मेरी भूमिका में लागू होती है ? इस बात पर यदि ध्यान नहीं गया, लक्ष्य नहीं गया, और तथारूप इसका विचार नहीं हुआ तो अपनी भूमिका में सुधारपूर्वक आगे बढ़ने का कोई अवकाश उत्पन्न नहीं होगा। ऐसी परिस्थिति होगी।

(इसलिए ऐसा कहा कि) **'...उनका यथायोग्य विचार होने से...'** यथायोग्य माने जिस भूमिका में जो योग्य हो उसका सांगोपांग विचार होना चाहिए। यह बात तो कृपालुदेव ने डाक्टर जिस प्रकार Treatment देते हैं वैसे की है। भाई ! आपको इस रोग के लिए यह गोली खानी है, या यह इंजेक्शन लेना है। परंतु उस इंजेक्शन का कोई विपरीत असर न हो इसलिए दूसरी यह दवाई भी साथ में लेनी है। साथ-साथ खाने-पीने में इतना परहेज भी रखना है।

जितनी भी सूचनाएँ दी जायें, उनका चारों पहलुओं से यदि अमल किया जाये तो ही वह रोग मिटेगा। वह भी अगर मिटने का योग होगा तो। पूर्व का अशाता का उदय पूरा होनेवाला हो तो मिटता है वरना सब बेकार जाता है। यहाँ ऐसा नहीं है। यहाँ तो 'सद्गुरु वैद्य सुजाण' हैं। वे चारों तरफ से इस प्रकार ट्रीटमेन्ट देते हैं, समझाते हैं कि अगर जीव अपनी भूमिका का यथायोग्य विचार करे तो अवश्य उसे लाभ हो। उसका आत्मकल्याण होगा, होगा और अवश्य होगा। यहाँ Guaranteed बात है। यहाँ ऐसी अनिश्चितता नहीं है कि, हो भी सकता है या नहीं भी हो सकता है। इसलिए कहते हैं कि **'ज्ञानीपुरुषों के वचनों की प्राप्ति होने पर, उनका यथायोग्य विचार होने से अज्ञान की निवृत्ति होती है।'** यानी कि प्रथम साधन ज्ञान है। अज्ञान की निवृत्ति किससे होगी ? ज्ञान द्वारा अज्ञान की निवृत्ति होती है।

मुमुक्षु की भूमिका में ज्ञान एक मात्र साधन है। यह बात सर्व ज्ञानियों ने पुकार-पुकार कर सर्व शास्त्रों में कही है। कृपालुदेव का यह जो अभिप्राय है वह अनंत ज्ञानियों का अभिप्राय है। और इसकी प्रतीति शास्त्रों को पढ़ने से तुरंत हो सकती है। पूर्व में महान आचार्यों ने जो शास्त्र लिखे उसके साथ यह बात सुसंगत है। और सुसंगत होना स्वाभाविक है। क्योंकि अनुभव तो सबको एक सा ही होता है। यानी कि सभी ज्ञानी एक ही बात करते हैं। यहाँ भी ज्ञान ही साधन है यह बात पहले ली (है)। तीन प्रकार के दोष लिए जिसमें अज्ञान मिटाने की बात (पहले) की। अज्ञान मिटे तो ज्ञान हो, ज्ञान होने पर समकित होता है, समकित और सम्यग्ज्ञान होने पर सम्यक्चारित्र उत्पन्न होता है, इसतरह कारण - कार्य की संधि ऐसी है। कारण-कार्य की श्रृंखला इस

प्रकार है। एक कारण है और दूसरा कार्य है।

कोई ऐसा विचार करे कि मुझे तो पहले सम्यग्दर्शन प्रगट करना है, सम्यक्श्रद्धा प्रगट करनी है क्योंकि चतुर्थ गुणस्थान तो सम्यक्श्रद्धा का है। अतः मुझे ज्ञान साधन नहीं चाहिए, तो वह क्रम विपर्यास हो जाएगा। वैसे कभी काम नहीं होता। कभी भी आत्महित नहीं होता - सम्यग्दर्शन नहीं होता। ज्ञान ही साधन है। और ज्ञानसाधन के अलावा दूसरा साधन अभी हो भी क्या सकता है ? यह विचार करने जैसा है। दूसरा कोई साधन होने का सवाल नहीं। सब से, अग्र, ऊर्ध्व, आगे ज्ञान है। ज्ञान एक समझ है कि जिसमें हित-अहित का विवेक होता है। (इसलिए यहाँ कहते हैं कि,) **'...उनका यथायोग्य विचार होने से अज्ञान की निवृत्ति होती है। उस अज्ञान की संतति बलवान होने से उसका रोध होने के लिए और ज्ञानीपुरुषों के वचनों का यथायोग्य विचार होने के लिए मल और विक्रम को दूर करना योग्य है।'** इतना काम साथ-साथ करना होगा।

फिर से, अज्ञान की संतति का मतलब अज्ञान के परिणाम का परंपरारूप होना। एक के बाद एक, एक के बाद एक, एक के बाद एक संतति चालू रहती है और बलवान (भी) है। अज्ञान बहुत बलवान है, जीव का अज्ञान एकदम बलवान है। थोड़ा - बहुत बलवान नहीं परंतु काफ़ी बलवान है।

इसका एक दृष्टांत लें कि, शरीर तो जड़ है, देह है सो जड़ है, जब कि आत्मा चैतन्य पदार्थ है यह बात समझने में उतनी कठिन और दूभर नहीं है। ज्ञानीपुरुषों के वचनों को ओघसंज्ञा से भी अगर मान्य रखें तो यह बात समझनी इतनी कठिन नहीं है क्योंकि प्रगटरूप से देह जड़ परमाणुओं का बना है, आत्मा ज्ञानस्वरूपी चैतन्य पदार्थ है, देह से कोई अलग प्रकार का पदार्थ है कि

जिसे लोग जीव कहते हैं। शरीर से जीव का अलग होना, यह रोज़ का अनुभव है। हररोज़ अखबार में 'मृत्युनोंध' आती है। जीव अलग हो गया, भीतर से जीव चला गया, तो उसका ज्ञान हुआ कि नहीं हुआ ? जिस दिन श्मशान जायेगा उस दिन श्मशानवैराग्य भी आयेगा, तो उसे जड़-चेतन की भिन्नता का तब ज्ञान तो हुआ। शरीर की अंतिमक्रिया करने में आती है। आत्मा चला गया। अब उस शरीर में जीव नहीं रहा, तो ऐसा जड़-चेतन की भिन्नता का ज्ञान सही हुआ या गलत ? तो कहते हैं कि नहीं। ऐसा समझना - जानना तो अज्ञानदशा में भी होता है। ऐसी अज्ञान की संतति बलवान है ! चलते विषय के अनुसार यहाँ क्या कहना है ? कि अज्ञान की संतति कितनी बलवान है !! वह ज्ञान समझ की दृष्टि से गलत है ऐसा तो नहीं कह सकते। ठीक ही है कि जीव चैतन्यस्वरूपी, ज्ञानस्वरूपी है, देह जड़ परमाणुओं का बना हुआ मिट्टी का पिंड है। इसमें गलत क्या है ? समझ की दृष्टि से गलत कुछ नहीं दिखता परंतु अनुभवदृष्टि से जब तक यह बात अनुभव से समझ में न आये तब तक झूठी है।

कृपालुदेव तो अनुभवज्ञान को ही ज्ञान कहते हैं। आत्मज्ञान है सो अनुभूति स्वरूप है। और अनुभवज्ञान को ही आत्मज्ञान कहा गया है। आत्मा के अनुभवज्ञान को ज्ञान कहा गया है। अनुभव शब्द को वेदन भी कहते हैं। लक्षण से, गुण से और वेदन से जिसने आत्मा को जाना उसे आत्मज्ञान हुआ ऐसा कह सकते हैं। 'लक्षण से, गुण से और वेदन से' (ऐसे शब्दों में) एक पत्र में बात चली है।

मुमुक्षु : गुण से माने क्या ?

पूज्य भाईश्री : गुण माने स्वभाव। लक्षण माने ज्ञानलक्षण।

मुमुक्षु : सामान्य लक्षण ?

पूज्य भाईश्री : हाँ, ज्ञानसामान्य लक्षण और वेदन अर्थात् अनुभव। वरना जानकारी हो जाती है परंतु वह काम में नहीं आती। काम में नहीं आती अर्थात् शांति प्रगट नहीं होती है। उससे आत्मशांति प्रगट नहीं होती। आत्मशांति तो ज्ञानवेदन से प्रगट होती है। जब तक ज्ञानवेदन प्रगट नहीं होता तब तक आत्मशांति प्रगट नहीं होती। अतः ऐसी जानकारी कोई आत्मशांति प्रगट होने नहीं देती। यह तो तब पता चलता है जब शरीर में थोड़ी सी अशांता हो, पीड़ा-वेदना हो, तब पूरा का पूरा वहाँ फँस जाता है, और आकुलता को भोग लेता है। अशांता के वेदन सहित दुःख व पीड़ा को भोगता है। इंजेक्शन की एक सुई लगने पर उस एक जगह - एक Point में पूरा आत्मा आ जाता है कि नहीं ? ऐसा क्यों हुआ ? क्योंकि देह और आत्मा अभिन्न है, एक है, ऐसा अनुभव वर्तता है - वह अज्ञान है। ऐसा विपरीत अनुभव है सो अज्ञान है। ऐसा विपरीत अनुभव मिटा नहीं। जानकारी सही हुई लेकिन अनुभव झूठा रहा। यह जो गलत अनुभव है वह प्रतिबंधक कारण है - वह अज्ञान है। अज्ञान किसको कहना ? झूठ का अनुभव है सो अज्ञान। यहाँ झूठ क्या है ? तो कहते हैं कि देह है सो आत्मा है वह झूठ है। और इसकी संतति कितनी बलवान है कि देह व आत्मा भिन्न है, धारणा में ऐसी बात होने पर भी वह धारणा बेकार जाती है, वृथा जाती है, निष्फल जाती है !!! क्योंकि अज्ञान की संतति बलवान है।

ऐसी 'अज्ञान की संतति बलवान होने से उसका रोध...' रोध अर्थात् अटकना, उसे मिटाना, ऐसे अज्ञान को उत्पन्न नहीं होने देना उसे रोध कहते हैं। '...उसका रोध होने के लिए और ज्ञानीपुरुषों

के वचनों का यथायोग्य विचार होने के लिए मल और विक्षेप को दूर करना योग्य है। इसका मतलब सिर्फ ज्ञान की आराधना है सो बात नहीं। साथ-साथ मल यानी कि दर्शनमोह की भी मंदता आवश्यक है, साथ-साथ कषायरस की भी मंदता आवश्यक है। तीव्र कषायरस हो उसे ज्ञान का परिणमन नहीं होता। उलटी - विपरीत मान्यतारूप बहुत मलिनता हो उसे भी ज्ञान का परिणमन नहीं आता। (क्योंकि) ज्ञान के परिणमन हेतु (यथायोग्य) भूमिका चाहिए। इसके लिए श्रद्धा और आचरण के परिणाम साथ-साथ ठीक होने चाहिए। क्योंकि धर्म तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों का मेल हो तब धर्म - मोक्षमार्ग प्रगट होगा। सिर्फ सम्यग्ज्ञान से धर्म नहीं, सिर्फ सम्यक् श्रद्धा से धर्म नहीं होता, न तो सिर्फ सम्यक् चारित्र से धर्म है। अज्ञान में तीनों का परिणमन एक साथ विपरीत रहता है। जबकि मोक्षमार्ग में तीनों का सुलटा परिणमन साथ-साथ रहता है। संसारदशा में विपरीतरूप से साथ में रहते हैं। वैसे ज्ञान की मुख्यता भले ही हो परंतु उस ज्ञान के परिणमन हेतु, अनुभव में आने हेतु मल भी कम होना चाहिए, मिटना चाहिए, दर्शनमोह का भी उपशम होना चाहिए और कषायरस भी मंद होना चाहिए। कषाय मंद हो, ऐसे नहीं परंतु कषायरस मंद होना चाहिए।

राग-द्वेष-मोह आदि कषाय के जो परिणाम हैं उनकी शक्ति उन परिणाम के रस में है। या ऐसा कहें, किसी भी परिणाम की शक्ति उस परिणाम में रस कितना लेते हैं, उस पर इसकी बलवत्तरता का आधार है। अतः जिसे विक्षेप मिटाना हो उसे कषायरस तोड़ना चाहिए, तो उसका विक्षेप मिटेगा। जब तक कषायरस तीव्र होगा तब तक किसी भी हालत में ज्ञान का परिणमन नहीं होगा। क्योंकि वह (कषायरस) ज्ञान को स्थिर नहीं होने देगा। विक्षेप के कारण

(परिणाम में) उथल-पुथल रहती है। हम नहीं कहते हैं ? भाई ! शांति से सुनने दो, विक्षेप मत करो बीच में ! वह अंतराय डालता है। अतः ज्ञानप्राप्ति के लिए ज्ञानीपुरुषों के (वचनों का) यथायोग्य विचार होना चाहिए, साथ-साथ मल और विक्षेप भी मिटने चाहिए।

अब, इन तीनों के मिटने का कारण क्या है ? (यह कहते हैं)। मिटाने चाहिए यह बात तो ठीक है लेकिन मिटाने के लिए करना क्या ? इसका भी यहाँ स्पष्टीकरण दे दिया है। वरना प्रश्न खड़ा हो जाये ऐसी यह बात है। किन्तु स्पष्टीकरण साथ में दिया ही है। जिज्ञासावश प्रश्न उठे तो अच्छा है वरना बिना जिज्ञासा जो भी श्रवण या वांचन इत्यादि होता है उसके परिणामन का अवकाश नहीं रहता। जिज्ञासा, यह मुमुक्षु के परिणाम की एक ऐसी भूमिका है कि जिसमें विचार की भूमिका के दौरान 'सत्य क्या है ?' यह समझने के लिए खाली जगह होती है, अवकाश प्राप्त होता है। वरना तो इतना सारा कचरा भरा पड़ा है कि सत्य बात को स्थान पाने का अवकाश नहीं है। भीतर में गड़बड़ बहुत है। अतः यहाँ पर यह प्रश्न उठना अपेक्षित है कि मल, विक्षेप और अज्ञान मिटाने का साधन क्या ? कैसे परिणाम हो तो मल, विक्षेप और अज्ञान कम हो ? यह सीधी-सी बात है। सीधा प्रश्न है।

स्वयं लिखते हैं कि, 'सरलता, क्षमा, अपने दोष देखना, अल्पारंभ, अल्पपरिग्रह, इत्यादि मल मिटने के साधन हैं।' क्या कहा ? अज्ञान मिटाने के लिए ज्ञानीपुरुषों के वचनों की प्राप्ति होना, उसका यथायोग्य विचार होना (चाहिए, ऐसा कहा था)। अब, मल मिटने के साधन कहे हैं। यानी कि विपरीत श्रद्धा कैसे परिणाम से मिटे ? तो कहते हैं कि सरलता (होना) पहली बात है। जीव के परिणाम में सरलता का आना, यह धर्म पाने की बेहतरीन भूमिका है। क्यों ?

कि, सरलता है वह माया की प्रकृति से विरुद्ध परिणाम है। जब कि, मिथ्या मान्यता या मल है वह माया की प्रकृति में जाता है। क्रोध, मान, माया और लोभ चार कषाय हैं न ? उनमें माया की जो प्रकृति है उसे मिथ्यादर्शन व उलटी - विपरीत मान्यता, मल के साथ सीधा संबंध है। यह मल कैसे मिटाया जाय ? कि, माया से विरुद्ध सरलता जो है उससे मिटाना। वह माया से विरुद्ध सरलता जो है उससे मिटे। क्षमा भी तब ही जीव माँग सकता है जब सरलता हो, वरना क्षमा नहीं माँग सकता। मेरे दोष को आप माफ कीजिए, मेरी भूल को आप माफ करो, मेरे अपराध की मैं क्षमा चाहता हूँ - यह बिना सरलता नहीं हो सकता। सरलता तो बहुत बड़ी बात है !! इस मनुष्यगति का मुख्य कारण ही सरलता है।

‘मंद विषय ने सरलता, सह आज्ञा सुविचार,

करुणा, कोमलतादि गुण, प्रथम भूमिका धार।’

मुमुक्षु की प्रथम जघन्य भूमिका में इतना तो चाहिए। प्रथम अर्थात् शुरुआत की भूमिका में इतना चाहिए। ‘मंद विषय ने सरलता। ‘रस मंद (होना चाहिए)। पंचेन्द्रिय के विषय में परिणाम मंद रसपूर्वक (प्रवृत्ति) करे जब तो मुमुक्षुता कि शुरुआत होती है। उदय के कार्य में तीव्र रस पूर्वक प्रवृत्ति करे तो मुमुक्षुता नहीं रहती क्योंकि उस वक्त जागृति का अभाव हो जाता है। (जितनी) जागृति उतनी मुमुक्षुता। वैसे सरलता मनुष्यगति का कारण है। असरलता यानी कि मायाचारीपना तिर्यगगति का कारण है। अत्यंत क्रोधपूर्वक रौद्रध्यान के परिणाम नरकगति का कारण है। जब कि विशेष शुभ की मुख्यतापूर्वक लोभ के परिणाम होना वह देवगति का कारण है। परंतु वह भी शुभ की विशेषता सहित, वरना लोभ से काफ़ी पाप बंध होता है। इस प्रकार चार गति चार प्रकार के कषाय की

प्रकृति के साथ जुड़ी हुई है। इसमें से मनुष्यत्व जो है वह सरलता से प्राप्त हुआ है। अल्पारंभ, अल्पपरिग्रह व सरलता के परिणाम होते हैं तो मनुष्यगति मिलती है। इतना ही नहीं धर्म पाने के लिए चारों गति में मनुष्यगति है वह सबसे सानुकूल परिस्थिति है। इस मनुष्यगति की सानुकूल परिस्थिति में अगर विशेष सरलता की उपासना की जाये तो मोक्षमार्ग की प्राप्ति से लेकर निर्वाणपद को पा ले। सरलता में इतना बड़ा गुण है ! सरलता, क्षमा, इसमें कैसे परिणाम से मिथ्यात्व का अभाव हो यानी कि मल मिटे व सम्यग्दर्शन प्राप्त हो, (यह कहा है)।

'...अपने दोष देखना,...' देखो ! देखनेवाला है ज्ञान ! देखनेवाला कौन है ? यह ज्ञान की प्रवृत्ति है। वह क्या काम करता है ? दर्शनमोह के अनुभाग को तोड़ता है। कब (तोड़ता है) ? कि जब जीव अपने दोषों को देखता है तब। प्रवृत्ति ज्ञान की (है, परंतु) साथ-साथ दर्शनमोह के अनुभाग को कम करती है। मिथ्यात्व को कमजोर कर देती है। 'अपने दोष देखना', अभी तक विचार करना - विचार करना इस तरह बात आती थी, अब यहाँ देखने की बात आयी। देखना और विचार करना इसमें क्या फ़र्क है ? चलते हुए परिणाम को पकड़ना और देखना - प्रत्यक्ष करके (देखना), इसका नाम है देखना। जब कि दोष के परिणाम व्यतीत होने के पश्चात् तत्संबंधित विचार आना उसे विचार कहते हैं। वहाँ (विचार में) दोष का विषय परोक्ष है, यहाँ चलते हुए परिणाम को - दोष को देखे तब वह प्रत्यक्ष है।

दोनों के बीच क्या फ़र्क है ? विचार करने योग्य बात यह है कि इन दोनों में फ़र्क क्या है ? दोषित परिणामों का विचार आने में दोषित परिणाम तो तब चले गये हैं, व्यतीत हो चुके हैं,

तो जो दोष व्यतीत हो गये उसमें क्या सुधार हो सकता है ? उसमें तो इतना सुधार होने का अवकाश नहीं है। वारंवार वह दोष हो जाएगा। विचार किया होगा तो भी (वापिस हो जाएगा)। क्योंकि विचार में उतना बल नहीं है, जितना चलते हुए दोष का जागृतिपूर्वक अवलोकन किया जाए, उसमें जितना बल है। इसलिए यहाँ 'अपने दोष देखना' ऐसा लिया है। कितना फ़र्क पड़ता है जब एक ही दोष का विचार करो, और उसी दोष को वह चलता हो तब अगर ज्ञान उसे देखे, उपयोग उस पर चला जाये तो उसी समय उसका कषाय रस टूट जाएगा, खतम हो जाएगा, नहींवत् हो जाएगा। प्रयोग करने जैसा है। यह 'अपने दोष का देखना (हुआ)।'

(अब आगे कहते हैं) '**अल्पारंभ, अल्पपरिग्रह...**' यह बात यहाँ मुंबई में (रहते हो उसे) थोड़ी कठिन लगे, ऐसी बात है। यहाँ करोड़पति व अरबपति की बातें चलती हो, उसीके बारे में विचार चलते हो, इस बीच यह अल्पारंभ और अल्पपरिग्रह की (बात जल्दी से बैठे नहीं ऐसी है)। गाँव में रहते हो या निवृत्तिक्षेत्र में रहते हो उसके लिए तो थोड़ी आसान है। लेकिन मुंबई में रहनेवाले को जल्दी से अनुकूल न पड़े ऐसी बात है। परंतु आत्मकल्याण करना हो तो ज्ञानीपुरुष के वचनों को माथे पर चढ़ाना ही होगा ! फिर रहना चाहे कोई भी गाँव में या शहर में हो !

हम लोग स्वाध्याय करने के लिए क्यों यहाँ इकट्ठे होते हैं ? कोई कहाँ से आता है तो कोई कहाँ से आता है। अभी (मुंबई में) आने-जाने में कितनी मुसीबत है यह तो सबको अनुभवगोचर है ही। बोरीवली से आये हो उन्हें कितना समय लग जाता है ! (अतः) इनके वचन हमें आदर - सत्कारपूर्वक ग्रहण करने चाहिए

तब आत्मकल्याण होगा। वरना (ऐसा लगेगा कि) ठीक है, अब ! कृपालुदेव कहते तो हैं लेकिन मुंबई में ऐसा कहाँ संभव है ? लेकिन उन्होंने यह पत्र भी मुंबई से ही लिखा है, ठीक है ! योगानुयोग से क्या बना है ? मुंबई के झवेरीबाज़ार में बैठे-बैठे यह बात लिख रहे हैं। उनके लिए यह मुंबई नहीं था क्या ? क्या सिर्फ हमारे लिए मुंबई है ? (एक पत्र में) लिखते हैं न ! कि हम भी जब अल्पआरंभ और अल्पपरिग्रह का सेवन करते हैं तो आप लोगों को भी ऐसा ही करना है यह कहाँ कहने की आवश्यकता है !

अल्पआरंभ और अल्पपरिग्रह किस प्रकार से करना ? क्योंकि, जिसकी अपनी जरूरत बहुत है, बहुत अर्थात् जिसकी सीमा नहीं उतनी है, वह अल्पआरंभ और अल्पपरिग्रह में नहीं आ सकता। उसे तो अभी बहुत चाहिए। बहुत क्या जितना भी मिले उतना वह चाहता ही है - Unlimited चाहिए। किसीको Limit नहीं है। लेकिन यदि आत्मकल्याण करना हो तो इस संसार की प्रवृत्तियों में जो महत् आरंभ व महत्परिग्रह है उसकी बाज़ी समेटनी होगी। भले चाहे कितना भी विस्तार किया हो परंतु वह बाज़ी समेट लेने जैसा है। अगर समेटना मुश्किल हो तो किसी के जिम्मे छोड़ देना। किसीके मतलब ? जो भी संयोग में हो उसको, लड़के हो तो लड़कों के व भाई हो तो भाई के जिम्मे ! 'आप सँभालिये अब हमें अपना काम करने दो। या तो बाज़ी समेट लो और अगर नहीं समेटा जाये तो किसीको सौंप दो। किसीको मतलब कौन ? जो सँभालनेवाला हो वह। जिम्मेदारी आपकी, हमारी जिम्मेदारी इसमें कुछ नहीं। इतना अगर न हो सके तो अल्पता तो करने जैसी है ही। तब तो ज्ञानीपुरुषों के वचनों को मान्य किया जाने, वरना तो लोग हमारी टीका करेंगे कि, भाई ! सिर्फ ज्ञान की बातें करते हैं, आचरण में कोई फ़र्क

नहीं है। देख लीजिए उनका धंधा-व्यापार ! उनकी प्रवृत्ति देख लो ! ऐसा कहेंगे और वे तो कहेंगे भी, यह स्वाभाविक है। परंतु हमें यहाँ सिर्फ कोई बातें करने के लिए इकट्ठा नहीं होना है।

पात्रता का सही लक्षण या वर्तमान पात्रता का सही लक्षण ऐसा है कि जो हमें लागू पड़ता हो उसका तुरंत ही अमल करना - अमलीकरण में जाना ! यह वर्तमान पात्रता की निशानी है। अगर इसका अमल करने में बादमें... बादमें... बादमें ऐसे देर लगाई, अभी नहीं लेकिन बाद में तो वह 'बाद' में वाला प्रकार कभी पहले नहीं होगा। ऐसा प्रकार है, परिणाम का प्रकार ऐसा है। क्योंकि 'बाद' में करने का प्रकार आत्मा की अरुचि का द्योतक है, अरुचि को प्रगट करते हुए परिणाम हैं। रुचिवान को 'बाद में' ऐसा नहीं होता। शास्त्र में रुचि का दृष्टांत दिया है कि, पतंगा को दीये की इतनी रुचि होती है। किसको ? पतंगा को दीये की इतनी रुचि होती है कि दीया देखा कि तुरंत कूदकर उसमें गिरता है। इतना भान भी नहीं रहता कि मेरे पँख इसमें जल जायेंगे और मैं मर जाऊँगा !! चक्षु इन्द्रिय का इतना तीव्र खिँचाव है। वह जीव चक्षु इन्द्रिय के तीव्र आकर्षण के फल में ही पतंगा हुआ है। और जैसे ही किसी भी चक्षु इन्द्रिय का विषयरूप कोई दीया दिखता है, कि उसमें गिरकर जल जाता है। शास्त्र में यह दृष्टांत आता है। क्योंकि तब वह पतंगा का जीव विचार करने नहीं रुकता कि, दीया बहुत अच्छा है, सुंदर है, मुझे अच्छा लगता है, अब मुझे उसके पास जाना है; लेकिन आज जाना कि कल जाना, थोड़ी देर बाद जाऊँ या अभी जाऊँ - ऐसा विचार नहीं करता। वह तो सीधा अपने आप को स्वाहा कर देता है। इस तरह जिसको आत्मरुचि होती है वह 'बाद में करूँगा' ऐसा वायदा नहीं करता।

‘बाद में करूँगा’ ऐसा वायदा करनेवाले को आत्मा की रुचि नहीं किन्तु अनात्मा की रुचि है - जड़ की रुचि है। यह बात निश्चित होती है। इसलिए अभी करना है या नहीं? यह सवाल है। कल की बात करनेवाले का इसमें काम नहीं है - वह कल, कल ही रह जाएगा। ‘आज नगद कल उधार’ जैसी बात हो जाएगी।

अल्पआरंभ व अल्पपरिग्रह (क्यों कहा) ? क्योंकि वह तो पाप की गठरियाँ बाँधने के ही परिणाम हैं, और कुछ है ही नहीं। विशेष आरंभ - परिग्रह के जो परिणाम हैं उनमें तीव्र पापानुबंध होता है, इसके अलावा कुछ नहीं होता। यानी कि उनमें मल बहुत है। ज्यादा मलिन परिणाम अल्पआरंभ और अल्पपरिग्रह में नहीं आने देते। या ऐसा कहो कि विशेष आरंभ और परिग्रह के परिणाम में तीव्र मल रहा है। ज्ञानीपुरुषों के ये वचन अत्यंत सच्चे हैं, ऐसा कहना होगा। भले ही बाहर में इतना कषाय नहीं दिखता हो परंतु उसमें मल बहुत है। अतः बड़े-बड़े व्यापार, धंधा, कारखाना, इन्डस्ट्रीज़ (जो चलाते हैं उनमें) भले ही व्यवसाय करते वक्त तीव्र कषाय नहीं दिखता हो परंतु अंदर मल बहुत होता है। चाहे कोई भी परिस्थिति में - पूर्व प्रारब्ध योग से चाहे कैसी भी परिस्थिति हो, सधनता हो या निर्धनता परंतु मेरी जरूरत कम है और मुझे कम करना है, बढ़ाना तो है ही नहीं परंतु मुझे कम करना है। जितना है उसमें से कम करना है, बढ़ाना नहीं है। वह मल मिटने का साधन है। उसमें मलिनता घटती है अर्थात् मिथ्यात्व कमजोर होता है। कमजोर होगा जब तो उपशम होकर सम्यग्दर्शन प्रगट होगा। उसे प्रथम उपशम सम्यग्दर्शन कहा गया है।

(यहाँ) क्या कहते हैं ? कि ‘अल्पारंभ, अल्पपरिग्रह इत्यादि मल मिटने के साधन हैं।’ दूसरे किसी पत्र में आता है कि अल्पआरंभ

व अल्पपरिग्रह नहीं होता तो (वह महाआरंभ - परिग्रह) वैराग्य और उपशम के काल हैं। कैसे वचन लिखें हैं !! वैराग्य और उपशम के वे काल हैं। वैराग्य और उपशम दोनों को नहीं आने देंगे। महा आरंभ व महा परिग्रह के कारण वैराग्य और उपशम का नाश हो जाएगा या उत्पन्न ही नहीं होंगे। ऐसी दशा हो जाएगी। आत्मा को परिभ्रमण से बचाना हो या अपनी स्वदया आयी हो तो यह सब का गंभीरता से विचार करना होगा। एक मृत्यु का प्रसंग आने पर इतने तो गंभीर हो जाते हैं, Serious हो जाते हैं कि जैसे क्या होगा ? क्या होगा ? तो यहाँ तो यह अनंत जन्म-मरण का Problem है !! उसका समाधान चल रहा है। `....इत्यादि मल मिटने के साधन हैं।'

'ज्ञानीपुरुष की अत्यंत भक्ति विक्षेप मिटने का साधन है।' बहुत सरल व सुगम उपाय दिखा दिया है। ज्ञानीपुरुष की अत्यंत भक्ति से विक्षेप भी मिटता है, मल भी मिटता है और अज्ञान भी मिटता है। वह तो तीनों काम करती है। ऐसा है।

मुमुक्षु :- एक जीव का काम दूसरा जीव कुछ करता है क्या ?

पूज्य भाईश्री :- भक्ति तो खुद ही करता है न ! ज्ञानीपुरुष कहाँ कुछ करते हैं ? खुद भक्ति करता है और खुद को ही लाभ होता है। इसमें दूसरे के साथ कहाँ कुछ लेना-देना है ? भक्ति करनेवाला खुद (और) लाभ भी खुद को ही होता है। ज्ञानीपुरुष को कोई अपेक्षा नहीं है, उन्हें कुछ नहीं चाहिए। वे तो उसका कुछ करते भी नहीं। तू भक्ति कर तो तुझे लाभ होगा, ऐसा कहना है। परंतु सूचना इतनी है कि पहचानपूर्वक कर ! बिना पहचान ओघसंज्ञा पूर्वक करने से इतना लाभ नहीं होता। (सत्पुरुष से) दूर न जाये, विरुद्धता में न जाये इतना होता है लेकिन इतना लाभ

नहीं होता जितना लाभ पहचान से होता है। परंतु ऐसी अत्यंत भक्ति कब आती है ? क्योंकि ज्ञानीपुरुष की भक्ति एक बात है, ज्ञानीपुरुष की अत्यंत भक्ति यह दूसरी बात है। ज्ञानीपुरुष की भक्ति तो ओघसंज्ञा में अनेक जीव करते हैं। जब कि ज्ञानीपुरुष की अत्यंत भक्ति पहचानपूर्वक ही संभवित है। पहचान बिना अत्यंत भक्ति नहीं आती। इन दोनों में बड़ा फ़र्क है। दोनों भक्ति के परिणाम कहलाते हैं, परंतु भक्ति- भक्ति में फ़र्क है। और वह तीनों दोषों को मिटाने का बहुत बड़ा साधन है। यहाँ विक्षेप तो अवश्य मिटता है, परंतु विक्षेप मिटता है मतलब अन्य दो भी मिटते हैं। क्योंकि यहाँ विक्षेप का तो तीसरा क्रम लिया है। तीसरा मिट जाये तो पहले के दोनों (तो उसके) साथ-साथ मिटे ही मिटे। यह स्वाभाविक बात है। दर्शनमोह का अनुभाग कैसे घटे या रस कैसे घटे या मिथ्यात्व की शक्ति कैसे घटे ? (तो) अब ज्ञानीपुरुष माने कौन ? कि ज्ञानीपुरुष वे हैं कि, जिनका दर्शनमोह जैसा महान दोष - अनंत संसार में भटकने का कारणभूत महान दोष का स्वयं ने अभाव किया है ऐसे निर्मोही पुरुष। ज्ञानीपुरुष अर्थात् निर्मोही पुरुष। उनका निर्मोहीपना पहचानकर जिस जीव को उनके प्रति बहुमान आये उसे वास्तव में 'अत्यंत भक्ति' कहने में आती है। वह हकीकत में तो आत्मगुणों का ही बहुमान है। फिर तो, ऐसे आत्मगुण व्यक्तिविशेष में प्रगट हुए हैं इसलिए उनका नाम लेकर भी भक्ति करने में आती है, तब वह यथार्थ है। अतः जिसे निर्मोहीपुरुष का बहुमान आया उसका भी मोह (व कषाय)रस मंद हुए बिना (नहीं रहता)। उसका अनुभाग कम हुए बिना नहीं रहता। इसप्रकार मिथ्यात्व पूरा का पूरा बिलकुल कमजोर हो जाता है। ज्योंहि मिथ्यात्व कमजोर हुआ कि मुमुक्षु की भूमिका के योग्य ज्ञान की निर्मलता भी आये बिना नहीं रहती।

क्योंकि वह मल है। मल कम हुआ तो निर्मलता स्वतः हुई। कौन निर्मल हुआ ? तो कहते हैं कि, ज्ञान निर्मल हुआ। बस ! जिसके श्रद्धा - ज्ञान में सुधार हुआ उसके विक्षेप यानी कि चारित्र के परिणाम में स्वतः सुधार होता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं रहती।

इस तरह 'ज्ञानीपुरुष की अत्यंत भक्ति विक्षेप मिटने का साधन है।' इस एक पोस्टकार्ड में कृपालुदेव ने, मुमुक्षु कहाँ खड़ा है ? परिभ्रमण कर रहा यह जीव कहाँ फँसा है ? उसे क्या करना चाहिए ? और कैसे करना चाहिए ? यह सारी बातें इस एक पोस्टकार्ड में ही कर दी हैं। (कृपालुदेव का) विषय को प्रतिपादित करने का सामर्थ्य (तो देखो !) और वह भी संक्षेप में ! जबरदस्त सामर्थ्य है !! आत्मसिद्धि के कुछ एक पद तो महान आचार्यों के सिद्धांत सूत्र जैसे हैं। एक पद में मुमुक्षु की भूमिका से लेकर निर्वाणपद तक की संधि लगा देते हैं। एक गाथा है न !

**'ज्यां प्रगटे सुविचारणा, त्यां प्रगटे निजज्ञान,
जे ज्ञाने क्षय मोह थई, पामे पद निर्वाण।'**

एक ही गाथा है। एक गाथा में मुमुक्षु की सुविचारणा की भूमिका से लेकर निर्वाणपद तक की संधि कर दी है। सुविचारणा माने क्या ? इस पोस्टकार्ड का विषय यही चलता है। आत्मा को कल्याण में प्रतिबंधरूप जो-जो कारण हैं, उनका वारंवार विचार करना, (ऐसा कहा है)। (यानी कि) उन्हें मिटाने के हेतु से विचार करना। ऐसा विचार का प्रकार कि जिसमें आत्मकल्याण के प्रयोजन को मुख्य करना (होवे), इसे सुविचारणा कहते हैं। ऐसी सुविचारदशा जब प्रगट होती है तब निजज्ञान माने आत्मज्ञान प्रगट होता है, अवश्य प्रगट होता ही है।

फिर से, जिसे आत्मकल्याण का प्रयोजन पूर्ण करना है, इसी का विचार जिसको रहता है, साथ-साथ इसके विपक्ष में आत्मकल्याण में प्रतिबंधरूप कारणों को मिटाने का जो विचार है, उसरूप जो सुविचारदशा है वह आत्मज्ञान को प्रगट होने का कारण है। **‘जो प्रगटे सुविचारणा, तो प्रगटे निजज्ञान’** अर्थात् आत्मज्ञान। आत्मज्ञान प्रगट होते ही दर्शनमोह का तो नाश हुआ। अब उस आत्मज्ञान द्वारा चारित्रमोह का भी क्षय होगा व निर्वाणपद की प्राप्ति हो जाएगी। एक गाथा में कितनी बात ले ली...! सुविचारदशा से लेकर निर्वाणपद तक की संधि है !!

विशेष विस्तारपूर्वक विचार किया जाये तो एक गाथा पर एक पुस्तक बन सकती है। एक गाथामें से एक ग्रंथ लिखा जाये इतने - इतने भाव इसमें भरे हैं। इतना विस्तार हो सके ऐसा विषय है। मुमुक्षु की भूमिका में सुविचारदशा में कैसे-कैसे विचार आते हैं ? कैसे अपने प्रयोजन की मुख्यता होती है ? और अपने प्रतिबंधक कारणों को हटाकर कैसे आगे बढ़ा जाये ? वहाँ से लेकर आत्मज्ञान का प्रकरण तो बहुत बड़ा है। उस पर तो अनेक ग्रंथों की रचना है ही। ऐसे आत्मज्ञान का मुख्य कारण यह है। ‘आत्मसिद्धि’ में इतना सरल कर दिया है ! ऐसे आत्मज्ञान के प्रगट होते ही दर्शनमोह का तो क्षय हुआ ही, (बाद में) चारित्र मोह का क्षय करके वह निर्वाणपद को अवश्य पाएगा, पाएगा और पाएगा ही। सम्यग्दर्शन हुआ उसका मोक्ष न हो, निर्वाण न हो ऐसा कभी नहीं बना। तीनकाल में बननेवाला भी नहीं।

इसलिए तो कृपालुदेव ने दर्शनमोह को भाषा दी - वाचा दी, सम्यग्दर्शन जैसे बोलने लगा, पीछे लिया है - ‘हे जीव ! एक बार यदि तूने मुझे ग्रहण किया, अंगीकार किया, फिर तुझे संसार

में रहना होगा तो भी नहीं रह सकेगा, घसीटकर मैं तुझे मोक्ष में ले जाऊँगा। यद्यपि जिसको सम्यग्दर्शन होता है, उसे तो संसार में रहना ही नहीं है, तभी तो सम्यग्दर्शन हुआ है। परंतु कहने का आशय या प्रतिपादन करने की जो शैली है, आशय को प्रतिपादन करने की जो शैली है उसमें अति विचक्षणता रही है। उस जीव के परिणाम की जाति इतनी पलट जाती है कि (इसके आगे) एक बार सिर्फ तर्क किया जाये कि बाद में जीव को संसार में रहना हो तो क्या रह सकेगा ? तो कहते हैं कि ऐसा तर्क करे तो भी वह नहीं रह सकता। उस तर्क का जवाब ऐसा है। यद्यपि उसे रहना तो नहीं है परंतु तर्क किया जाये कि उसे संसार में रहना हो तो भी रह सकेगा क्या ? (तो कहते हैं कि) उस जीव के परिणाम अब पलट चुके। उसे संसार असार लगता है। किसी भी पुद्गल की पर्याय में सुख नहीं दिखता। सुख से शून्य (दिखता) है। जो संयोग जगत के जीव को आधार हो चुके हैं, आधारबुद्धि से जिसका सेवन होता है, वह आधारबुद्धि खतम हो चुकी है। भीतर में अपने परमात्मस्वरूप का आधार मिल चुका है। सम्यग्दर्शन होते ही अपने परमात्मस्वरूप का शाश्वतस्वरूप का आधार ले लिया। उसे अब संयोगों के आधार की कोई परवाह नहीं।

ज्ञानी कभी कल की चिंता नहीं करते। कृपालुदेव तो लिखते हैं कि, हम एक क्षण बाद की चिंता भी नहीं करते। एक क्षण के बाद क्या होगा उसकी चिंता हम नहीं करते। यह ज्ञानी का लक्षण है। जब कि अज्ञानी के पास चाहे कितना कुछ हो, कितनी भी संपत्ति हो, (फिर भी) वह आनेवाले कल की चिंता किये बिना रहेगा ही नहीं। कल की ही चिंता करेगा - यह अज्ञानी का लक्षण है। अज्ञानी का स्वरूप ही ऐसा है। ज्ञानी का स्वरूप इससे उलटा

है। क्योंकि उन्हें विश्वास है - आत्मविश्वास है कि सुख आत्मामें से प्रगट होगा, प्रगट हो रहा है और प्रगटरूप से उसे अनंत सुखधाम दिखता है। किसी के आधार की मुझे जरूरत नहीं है - ऐसा शाश्वतपद भी खुद को प्रत्यक्ष है। इसी कारण ज्ञानी को एक क्षण बाद क्या होगा ? यह चिंता नहीं है। चिंता होने का अवकाश भी नहीं है।

अतः इस पैराग्राफरूप जो पोस्टकार्ड है इसमें नींव की बात कर दी है कि, ये तीन प्रकार के दोष इस तरह मिटेंगे। तब ही जीव का आत्मकल्याण होगा वरना दूसरे किसी भी प्रकार से आत्मकल्याण होने का अवकाश नहीं है। शेष जो विषय है वह आगे के स्वाध्याय में लेंगे।



सिर्फ विचार करते रहनेसे प्रयोग करनेकी समझ नहीं आती। परन्तु अवलोकनसे प्रयोग समझमें आता है, क्योंकि परिणमनमें जो उलटा प्रयोग चल रहा है, वह अवलोकनसे समझमें आता है, और सुलटा प्रयोग करनेकी सूझ इससे आती है। पुनः सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्वभाव विचाररूप स्थूल ज्ञानमें ग्रहण नहीं होता। अवलोकनके अभ्याससे ही स्वभावका भासन हो सकता है, इसलिए अवलोकन प्रयोगका अंग है, उसमें ज्ञानकी प्रयोजनभूत रूपसे सूक्ष्मता बढ़ती जाती है। (पूज्य भाईश्री - अनुभव संजीवनी-९१३)

प्रवचन - ७ दि. ३०-७-१९९४ - पत्रांक-४४९ (३)

(श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत पत्रांक - ४४९) चौथा पैराग्राफ है। कृष्णदासभाई पर लिखे गये आठ पोस्टकार्ड में, मुमुक्षु की भूमिका में प्रयोजनभूत भिन्न-भिन्न प्रकार का विषय इस पत्र में उपदिष्ट है।

‘ज्ञानीपुरुष के समागम का अंतराय रहता हो, उस-उस प्रसंग में वारंवार उन ज्ञानीपुरुष की दशा, चेष्टा और वचनों का निरीक्षण करना, स्मरण करना और विचार करना योग्य है।’ ऊपर-ऊपर से ज्ञानीपुरुष की भक्ति का विषय हो ऐसा लगे परंतु इस विषय का तात्त्विक रहस्य बहुत गहरा है। ज्ञानीपुरुष का प्रत्यक्ष समागम रहता हो तो उसके जैसा उत्तम कुछ भी नहीं है। परंतु अंतराय रहता हो, अंतराय रहने के कारण दोनों तरफ होते हैं। ज्ञानीपुरुष स्वयं भी उपलब्ध न हो, ऐसे व्यवसाय में या किसी भी अन्य प्रकार से व्यस्त हो सकते हैं। और दूसरी ओर, खुद के उदय वश भी समागम प्राप्त न कर सके ऐसी परिस्थिति में हो सकता है। उस प्रकार ज्ञानीपुरुष का वर्तमान में अभाव हो उस वक्त भी, किसी भी प्रकार से ‘ज्ञानीपुरुष के समागम का अंतराय रहता हो, उस-उस प्रसंग में....’ यानी उस-उस वक्त ‘....वारंवार उन ज्ञानीपुरुष की दशा, चेष्टा और वचनों का निरीक्षण करना, स्मरण करना और विचार करना योग्य है।’ यानी कि जब प्रत्यक्ष समागम हुआ हो उस समागम के दौरान उनकी जो दशा समझ में आयी हो,

अवलोकन में आयी हो, खुद के ज्ञान में आयी हो, उनकी ऐसी दशा का वारंवार निरीक्षण करने योग्य है, स्मरण करने व विचार करने योग्य है।

निरीक्षण करना माने प्रत्यक्षवत् Visualize करना, उसे निरीक्षण कहते हैं। वेदांत की परिभाषा में उसे निदिध्यासन भी कहते हैं। जैसे स्वयं ने किसी प्रसंग में तीव्र रसपूर्वक प्रवृत्ति की हो, तो प्रसंग का स्मरण आते ही वह दिखने भी लगता है। मानसपट पर वह प्रसंग दिखता है, स्मरण में आता है; विचार में आता है और दिखता भी है। और उस वक्त उस प्रसंग संबंधित रस भी विशेषरूप से आविर्भूत होता है। विचार और स्मरण दोनों से निरीक्षण करना - वह (रस) आविर्भूत होने का विशेष कारण है।

इस विषय में पत्रांक - १७२ में कृपालुदेव के अपने ही शब्दों में बहुत सुंदर वर्णन आया है। पत्रा है, २५३। 'निरंतर उदासीनता के क्रम का सेवन करना; सत्पुरुष की भक्ति में लीन होना; सत्पुरुषों के चरित्रों का स्मरण करना; सत्पुरुषों के लक्षण का चिंतन करना; सत्पुरुषों की मुखाकृति का हृदय से अवलोकन करना;...' आँख से (अवलोकन करने का) नहीं कहा, हृदय से अवलोकन करना ! '...उनके मन, वचन और काया की प्रत्येक चेष्टा के अद्भुत रहस्यों का वारंवार निदिध्यासन करना;...' यहाँ निदिध्यासन शब्द इस्तेमाल किया है। '...और उनका मान्य किया हुआ सभी मान्य करना।' उन्होंने जो मान्य किया हो उसमें बुद्धि लगानी नहीं है। मान्य करने का मतलब ऐसा है। मुझे कुछ और ठीक लगता है, उन्हें भले ही ऐसा लगता हो, लेकिन मुझे कुछ और ठीक लगता है - ऐसे नहीं लेना है। ये जो-जो वचन लिखे हैं उनमें विश्लेषण किया जाये तो एक-एक वचन पर एक-एक घंटा निकल जाये,

ऐसे वचन हैं। ये इतने जो वचन हैं वे दो-तीन घंटे के स्वाध्याय का विषय है। चलते हुए विषय में तो हम सिर्फ इनका Reference लेते हैं। पूर्वापर संबंध क्या है ? इतना ही लेते हैं।

एक दृष्टांत ले तो 'सत्पुरुष की भक्ति में लीन होना,...' ऐसा कहा है। लीन होना माने - 'लीनता' शब्द का सीधा सादा अर्थ है एकाग्रता। परंतु कैसी एकाग्रता ? कि अपने आप को भूल जाए ऐसी एकाग्रता ! उसे सत्पुरुष की भक्ति कहते हैं। एक दफा तो वर्तमान पर्याय को भूल जाए। तब वह लीन हुआ कह सकते हैं ! भक्ति का सामान्य रस का प्रकार यहाँ लेने योग्य नहीं है। इसलिए लेने योग्य नहीं है क्योंकि यह बहुत महत्व का विषय है। यह सामान्य परिणाम का विषय नहीं है, परंतु किसी विशिष्ट प्रकार के परिणाम का विषय होने से इन वचनों का मूल्यांकन उन्होंने ऐसे शब्दों में किया है कि, 'यह ज्ञानियों द्वारा हृदय में स्थापित परम रहस्य है।' ज्ञानियों द्वारा हृदय में स्थापित परम रहस्य है। परम रहस्य का मतलब है Top secret ! इससे आगे कोई Secret नहीं रहा ! ऐसा तो क्या है इसमें कि इतने वचनों में परम रहस्य आ गया ? वह ऐसा है कि, दर्शनमोह का अनुभाग टूट जाता है। मिथ्यात्व भागने की तैयारी करता है और मुमुक्षुजीव का जो संसार है उस संसार छूटने की तैयारी होती है। भीतर से खुद के मोक्ष की दृढ़ प्रतीति आती है, इसमें ऐसा रहस्य है !

कल रात के स्वाध्याय में थोड़ी बात चली थी कि (भक्ति है वह) निर्मोहीपुरुष के प्रति का मूल्यांकन है। 'अत्यंत भक्ति' शब्द आया था न ! उस पर से बात चली थी ! ऊपर के पैराग्राफ में 'अत्यंत भक्ति' शब्द था। ऐसी अत्यंत भक्ति, पराभक्ति, ऐक्यभक्ति

कब आती है ? कि, उनकी जो दशा, उस दशा के विषयभूत उनके हृदय में बिराजमान ऐसा परमात्मतत्त्व, इन सबके दर्शन से उत्पन्न हुई जो परमेश्वरबुद्धि, वह मुमुक्षुजीव के दर्शनमोह को खतम करती है। जीव पर दर्शनमोह जैसी मजबूत से मजबूत भावकर्म की और द्रव्य कर्म की पकड़ और किसी की नहीं है। अनंत संसार का कारण कोई है तो यह एक ही है। यही (भक्ति) अनंत संसार में भटकने के कारणभूत ऐसे भाव और द्रव्य(कर्म) - दोनों को खतम करती है। निमित्त-नैमित्तिक संबंध से द्रव्य(कर्म) भी है। दूसरे कर्म की प्रकृति में तो फिर भी ऐसा है कि उदय हो लेकिन भाव नहीं भी हो जब कि मिथ्यात्व प्रकृति का उदय होता है तब नियम से जीव मिथ्यादृष्टि ही होता है, तब ही उसका उदय होता है वरना उपशम हो जाये या क्षयोपशम हो जाये, या क्षय हो जाये। उसको तोड़नेवाले अगर कोई परिणाम हैं तो वे कृपालुदेव ने ये जो लिखें हैं इतने वचन हैं।

इसलिए ऐसा कहा कि, यह ज्ञानियों द्वारा हृदय में स्थापित, गुप्तरूप से रखा हुआ (परम रहस्य है)। क्योंकि सीधा ऐसा ही कह दे तो जीव को उलटा पड़ने की भी शक्यता है कि ज्ञानी होते हुए ज्ञानी की इतनी बात करते हैं! जरूर कुछ स्पृहा होगी ! उनकी निष्कामता में शंका हो जाएगी। उनकी निस्पृहता में शंका हो जायेगी। खुद ज्ञानी होकर ज्ञानी की इतनी बात करना यह बहुत बड़ा साहस है। दुनिया इतनी सीधी-सादी नहीं है कि सब बात सुलटी ले। उलटा ही लेगी। परंतु (उस वक्त) कुछएक सुपात्र जीवों का योग था कि जिन्हें स्वप्न में भी शंका उठने का सवाल नहीं था। ऐसे सुपात्र जीव थे। इसलिए उन्होंने भी हृदय खोलकर बात की है।

इसलिए ऐसा कहते हैं कि 'यह ज्ञानियों द्वारा हृदय में स्थापित, निर्वाण के लिए मान्य रखने योग्य,...' सिर्फ सम्यग्दर्शन होगा और आपका दर्शनमोह कम होगा, इतना ही नहीं। मुनाफा कितना है यह दिखाते हैं - कि इस व्यापार की फलश्रुति में निर्वाणपद का लाभ है !! कहने की आवश्यकता नहीं है कि सम्यग्दर्शन से लेकर अध्यात्म की ऊपर-ऊपर की सभी दशाएँ इसमें समा जाती हैं। (आगे लिखते हैं) '...श्रद्धा करने योग्य, वारंवार चिंतन करने योग्य,...' है। इतना ही नहीं रुचिपूर्वक (चिंतन करने योग्य है)। 'प्रति क्षण और प्रति समय उसमें लीन होने योग्य...' है (अर्थात्) उसका परिणमन होना चाहिए। प्रति समय उसका परिणमन होने योग्य है। प्रति क्षण उसका परिणमन होना जरूरी है। ऐसा यह 'परम रहस्य है।' और यही बात सर्व शास्त्रों ने की है, सर्व संतों के हृदयमें से निकली है, 'और ईश्वर के घर का मर्म पाने का...' यानी कि जिनेन्द्र परमात्मा का, जैन परमेश्वर का मर्म पाने का, उनके घर का मर्म पाने का, '...महामार्ग है।' दूसरे सभी साधन इसके आगे गौण हैं इसलिए इसे महामार्ग कहा है।

उसी विषय का उन्होंने यहाँ संक्षेप लिया है। कि 'ज्ञानीपुरुष के समागम का अंतराय रहता हो, उस-उस प्रसंग में वारंवार उन ज्ञानीपुरुष की दशा, चेष्टा और वचनों का निरीक्षण करना,...' उनकी दशा का निरीक्षण करना और वह दशा जिसके द्वारा व्यक्त होती है वह चेष्टा जो अंतरंग दशा की अभिव्यक्ति करती है - उस चेष्टा का व वचनों का (भी) निरीक्षण करना। इसके लिए एक दृष्टि चाहिए ऐसा विषय है। सबको ज्ञानीपुरुष के दर्शन से, उनकी चेष्टा से, उनकी अंतरंग दशा समझ में आना संभव नहीं है। वह इतना संभव होता तो मोक्ष इतना दुर्लभ नहीं होता - निर्वाणपद

इतना दुर्लभ नहीं होता।

यह बात तो (उन्होंने) ६७९ (पत्र) में की है, जहाँ ज्ञानीपुरुष की वाणी और अज्ञानी की वाणी के तफावत लिये हैं। 'सर्व जीवों को अर्थात् सामान्य मनुष्यों को ज्ञानी - अज्ञानी की वाणी में जो अंतर है सो समझना कठिन है, यह बात यथार्थ है।' दूसरे पैराग्राफ में पहली पंक्ति है। वाणी तो विशेषरूप से भावों की अभिव्यक्ति करती है। चेष्टा तो इससे सूक्ष्म है। मुखाकृति या शरीरादि की चेष्टा की (पहचान) तो इससे भी सूक्ष्म है। जब कि नेत्र के भाव तो और भी सूक्ष्म हैं। परंतु जिनकी नज़र होती है, ऐसे सुपात्र जीवों को तो वह निर्वाण का निमित्त होता है। निर्वाण प्राप्ति का कारण बनता है। निर्वाण होने में वह अंतरंग कारण है, बाह्य कारण नहीं।

भगवान् कुंदकुंदाचार्यदेव ने नियमसार शास्त्र में यह बात की है। सत्पुरुष को अंतरंग कारण कहा है। कैसा ? (अंतरंग कारण)। जिस शास्त्र में क्षायिक आदि चार भावों को परद्रव्य, परभाव व हेय कहा है, उसी शास्त्र में पंचरत्न जैसी पाँच गाथामें से एक गाथा में सत्पुरुष को अंतरंग कारण कहा है। (सत्पुरुष) बाहर में हैं फिर भी (उन्हें) अंतरंग कारण कहा है। यह एक रहस्यभूत विषय है इसलिए ऐसा कहा है। लोग इसका मूल्यांकन नहीं समझते। जब नहीं समझते हैं तो इसका दंड भी भुगतना पड़ता है। और यदि समझे तो, अनंतकाल में एक बार भी अगर समझे तो उसका छुटकारा हो जाये।

अनंतकाल से परिभ्रमण करते हुए इस जीव ने तीर्थकर से लेकर, निर्ग्रथ गुरु से लेकर अनेक सत्पुरुषों का अनंतबार समागम प्राप्त किया है। परंतु अंतरंग दशा से एक बार भी किसी को नहीं पहचाना

है। तीनोंमें से एक को भी नहीं (पहचाना)। सजीवनमूर्ति तीन हो सकते हैं परंतु तीनोंमें से एक को भी अगर सम्यक्त्वरूप में पहचान ले (तो इसका फल बहुत बड़ा है)। सर्वज्ञ को सर्वज्ञ के रूप में पहचानना तो बहुत मुश्किल है। परंतु सर्वज्ञ को सम्यक्त्वरूप में भी अगर पहचान ले तो उसका फल बहुत ऊँचा - महत् फल है। वरना सर्वज्ञ को सर्वज्ञ मानकर की हुई भक्ति का भी कोई फल नहीं है। यह कृपालुदेव का पत्रांक - ५०४ कहता है। (उस पत्र में) बहुत अच्छा विषय लिया है। विषय थोड़ा गूढ़ है, कठिन है। परंतु ऐसा लिया है कि सर्वज्ञ को भी यदि सम्यक्त्वरूप में पहचाने, स्वभाव से पहचाने तो उसका फल महत् है। यानी कि उसका फल निर्वाणपद है। वैसे सत्पुरुष को तो दूसरा बाह्यत्याग नहीं होता है फिर भी (अगर) सम्यक्त्वरूप से उनको पहचाने तो जैसे सर्वज्ञ को पहचाना वही प्रकार यहाँ सत्पुरुष में हो गया, और उसका फल निर्वाणपद है। पहचान का इतना बड़ा फल है ! और इसलिए उन्होंने पत्रांक - ७५१ में प्रथम समकित कहा है। पहला समकित कहा है या सम्यक्त्व का वह प्रत्यक्ष कारण है। भावि सम्यक्त्व का वह प्रत्यक्ष कारण है। 'आत्मसिद्धि शास्त्र' की १७वीं गाथा में '**कारण गणी प्रत्यक्ष**' ऐसा कहा है।

इसलिए यह बात यहाँ अपेक्षित है कि ज्ञानीपुरुष के प्रत्यक्ष समागम का अंतराय रहता हो और ज्ञानीपुरुष की पहचान हुई हो तो उनकी दशा को, चेष्टा को वारंवार निहारना। उनके जो वचन हैं, वे उनकी दशा को व्यक्त करते हैं, उसे भी वारंवार निहारना, वारंवार रुचिपूर्वक उनका स्मरण और विचार करने योग्य है। (दृष्टांत लें तो) घर में एक बालक जन्मता है, वह छः - बारह महिने बाद बोलना शुरू करता है तब पहले-पहले एक-दो अक्षर बोलता

है जैसे बा, मा..पा ऐसा कुछ, एक अक्षर से (बोलता है)। तब घर के सभी सदस्य वारंवार इसका स्मरण करते हैं। देखो ! आज तो ऐसा बोल रहा है ! देखो ! आज तो ऐसा बोलता है ! भले ही तोतला बोले तो भी, स्पष्ट तो नहीं बोलता है ! ऐसा क्यों ? ऐसी तोतली बोली का भी इतना अधिक लगाव क्यों ? क्योंकि उस पर प्रेम आता है। उस बालक पर प्रेम है। बालक की निर्दोषता पर भी प्रेम है। उसमें अपनत्व के कारण भी प्रेम है। मोह के कारण भी ऐसा होता है। प्रेम का मतलब यहाँ कोई निर्दोष प्रेम है ऐसा नहीं कहना है। राग को इधर प्रेम कहा जाता है। परंतु ज्ञानियों के प्रति ऐसा मोह कभी हुआ क्या ? ऐसा कहते हैं।

१८७ (पत्र) में कहा कि, यह एक जगत की विचित्रता है कि, जीवों को महात्मा के प्रति प्रेम नहीं आता है। १८७ में वह बात ली है, क्यों नहीं आता है ? कि मेरा कल्याण, आत्मकल्याण, शाश्वत आत्मकल्याण होने का यह प्रसंग है - ऐसा जीव को सही मूल्यांकन जो आना चाहिए वह नहीं आया। ऊपर-ऊपर से चला है।

उसका वारंवार स्मरण करने योग्य है इसका मतलब जिसको सत्पुरुष के प्रति अहोभाव है, उसको स्मरण आये बिना रहेगा नहीं विचार आये बिना रहे नहीं। स्मरण में अवश्य आयेगा, विचार में अवश्य आयेगा। आना चाहिए, का मतलब है ऐसा ही होता है, दूसरे प्रकार से नहीं होता। **‘और उस समागम के अंतराय में, प्रवृत्ति के प्रसंगों में अत्यंत सावधानी रखना योग्य है;...’** यह विशेष सूचना है। सत्पुरुष का प्रत्यक्ष समागम हो तब तो अंतर-बाह्य वातावरण बदल ही जाता है, परंतु खुद प्रवृत्ति के प्रसंगों के बीच हो और उस वजह से अंतराय रहता हो, समागम नहीं हो पाता हो, तो ऐसे प्रवृत्ति के प्रसंगों में अत्यंत सावधानी रखनी जरूरी है। **‘क्योंकि**

एक तो समागम का बल नहीं है और दूसरा अनादि अभ्यास है जिसका, ऐसी सहजाकार प्रवृत्ति है;...' जीव अगर सावधानी नहीं रखता है तो प्रवृत्ति में इतने रसपूर्वक परिणमन कर लेता है कि जितनी भी सत्संग की उपासना की हो उसे नष्ट होने में मिनटों ही लगते हैं, कुछ सेकंड ही लगते हैं, इससे ज्यादा देर नहीं लगती। दीर्घकाल पर्यंत उपासना की हो ऐसा सत्संग, तीव्र रसपूर्वक प्रवृत्ति के उदय में प्रवृत्ति कर लेने से, क्षण में - क्षण मात्र में उस पर पानी फिर जाता है। इसलिए जीव को अत्यंत सावधानी रखनी चाहिए। अत्यंत सावधानी रखनी चाहिए। अत्यंत सावधानी अर्थात् अत्यंत जागृति रखनी आवश्यक है।

अत्यंत जागृति रखनी चाहिए कि मुझे मेरा आत्मकल्याण करना है इसके बजाय अकल्याण होने के ये (सारे) प्रसंग हैं, इसलिए अत्यंत जागृत रहना चाहिए। अगर कोई प्रयोजनभूत भूल है तो वह इसी जगह है कि जहाँ अपने आत्मा का अकल्याण होता है वहाँ जीव की जागृति नहीं है। फिर तो कल्याण होने के स्थान में जागृति में आना मुश्किल पड़ता है। (यानी कि) कल्याण के प्रसंग में भी जागृति में आना मुश्किल पड़ता है। अगर जीव को 'दृढ़ मोक्षेच्छा' प्रगट हुई हो तो, यथार्थ मुमुक्षुता आयी हो तो, और सत्पुरुष का समागम सही भावना से - आत्मकल्याण की भावना से किया हो तो, उसको आत्मजागृति आती है, अवश्य आती है, नहीं आने का प्रश्न ही नहीं है। आत्मजागृति न रहे और पीछे से विचार आये, वह फलिभूत नहीं होता।

(इसलिए यहाँ ऐसा कहा कि) उन प्रसंगों में अत्यंत सावधानी रखने योग्य है। क्योंकि एक तो समागम का बल नहीं है। समागम का बल हो जब तो परिणमन में विशेषतः उदासीनता हो सकती

है - रह सकती है, परंतु जब समागम न हो तब वह उदासीनता में न्यूनता आती है और प्रवृत्ति के प्रसंगों में कितनी ही अपेक्षाओं सहित प्रवृत्ति चलती है। जैसे ऐसी प्रवृत्ति करे और इतनी सफलता मिल जाये तो अच्छा, निष्फल नहीं हो जाये तो अच्छा, इसप्रकार से उसमें तीव्र रस आना यह जीव की अनादि से सहजाकार प्रवृत्ति का अभ्यास है। अभ्यास है मतलब ? इसमें कोई किताब लेकर सीखने थोड़ी बैठता है ! प्रवृत्ति के वक्त उलटी Practice चलती है। यहाँ अभ्यास कहा वह Practice - मुहावरा के अर्थ में कहा है। उलटा मुहावरा और उलटी Practice बहुत है। उलटा परिणामन करना यह तो सहज हो चुका है। विपरीत चलना यह तो सहज हो चुका है। इसलिए उलटे प्रयोग के सामने सुलटा प्रयोग अपेक्षित है।

क्या कहते हैं यहाँ ? 'अनादि अभ्यास है जिसका...' यानी कि Practice है जिसकी; '...ऐसी सहजाकार प्रवृत्ति है...' उदय की (प्रवृत्ति) सहज हो गई है। उसमें रस लेने के लिए कोई पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता है। वह तो सहज-सहज में हो जाती है। अब (जो) सहज- सहज हो जाता है, उसमें जागृति न रही तो वह अटकेगा कैसे ? वह नहीं अटकेगा। इसलिए उलटी Practice के आगे सुलटी Practice चाहिए।

विषय तो इसलिए विचार करने योग्य है, क्योंकि मुमुक्षुजीव वर्तमान में तत्त्वज्ञान का अभ्यास करता है, सत्पुरुषों के वचनामृत का अभ्यास करता है; ऐसे जीव वांचन, श्रवण, चिंतवन, और परस्पर इसकी चर्चा करते हैं, यह सब प्रकार चलते हैं और इन सभी प्रकार में परिणाम की मर्यादा कहाँ तक है, इसका यदि विचार किया जाये तो, यह सारी की सारी प्रक्रियाएँ वैचारिक भूमिका की मर्यादा

में होती हैं। पढ़ने की, विचार की, सुनने की, ये सभी प्रक्रियाएँ वैचारिक भूमिका की मर्यादा में समाविष्ट होती हैं। अब जीव में जो विपरिणाम होते हैं, जीव को नुकसान होता है, आत्मकल्याण नहीं बल्कि अकल्याण होता है इसके लिए उसको विचार नहीं करना पड़ता। कृपालुदेव के शब्दों में कहें तो ऐसी सहजाकार प्रवृत्ति है। जीव सहज-सहज में उसका परिणमन कर लेता है। अतः उसका यह प्रयोगाभ्यास उलटा है। उलटे प्रयोग के सामने सुलटा प्रयोग चाहिए। उलटे विचार के सामने सुलटा विचार चाहिए। लकड़ी से कोई वार करने आये तब आप सामने लकड़ी इस्तेमाल करो तब तो ठीक है, लेकिन कोई तलवार लेकर मारने आये तब लकड़ी काम में नहीं आती। तलवार के सामने तलवार चाहिए, पिस्तोल के सामने पिस्तोल चाहिए। पिस्तोल के सामने फिर तलवार भी काम नहीं आती। वैसे उलटे - विपरीत विचार के सामने अविपरीत - सुलटा विचार जरूर काम में आयेगा। परंतु उलटी Practice के आगे सिर्फ विचार काम नहीं आयेगा। उलटी Practice के सामने विचार इतना समर्थ नहीं है कि वह Practice को बंद कर दे। वारंवार एक ही भूल हो जाएगी। फिर फरियाद करेंगे।

आज के मुमुक्षु समाज में यह व्यापक फरियाद है कि काफ़ी वांचन करते हैं, विचार करते हैं, इतना ही नहीं पढ़ते हुए, विचार व चिंतवन करते-करते बरसों (बीत) गये और जीवन का उत्तरार्ध - संध्याकाल आ गया। अब क्या करें ? यह समस्या होती है। फिर भी अभी कोई पारमार्थिक लाभ नहीं हुआ है, यह बात निश्चित है। अब करें क्या ? मनुष्यभव जैसा मनुष्यभव पूरा होने में देर नहीं लगेगी। इसके उपायभूत यह बात है कि, उलटे विचार के सामने सुलटे विचार ने थोड़ा-बहुत काम किया होगा तो शायद आपको

ज्यादा उलटे विचार नहीं भी आयेंगे, परंतु इससे कोई संतुष्ट हो जाने जैसा नहीं है। परिणमन का जो उलटा अभ्यास चालू है - उलटी Practice चालू है उसके सामने सुलटी Practice कितनी चलती है ? सफलता के लिए इतना ही जरूरी है। अतः सिर्फ वांचन-विचार से संतुष्ट नहीं होकर वांचन, विचार से जो समझ में आया है, उस समझ को परिणमन में लागू करने का बल होना चाहिए। और उस समझ को बलवानरूप से परिणमन में लागू करनी चाहिए, तब ही सुलटी Practice शुरू होगी या चालू होगी। और तब ही उलटी Practice जो चालू है वह छूटेगी। वरना छूटने का कोई उपाय नहीं है। वांचन - विचार से काम पूरा नहीं होगा। वह अपर्याप्त प्रक्रिया है, पर्याप्त प्रक्रिया नहीं है, ऐसा कहना है।

यद्यपि एक बात अवश्य है कि, वांचन-विचार की भूमिका में भी अगर एक ऐसा Factor मौजूद हो कि आत्मकल्याण की अत्यंत भावना सहित या दृढ़ मोक्षेच्छापूर्वक सत्पुरुषों के वचनामृतों का या तत्त्वज्ञान का अभ्यास हो, तो वह एक प्रेरक बल जरूर है कि जिससे वह विचार आगे जाकर Practice में - अभ्यास में परिणमन कर लेगा। अतः यदि यथार्थरूप से वांचन-विचार के स्वरूप के बारे में सोचा जाये तो उसका स्वरूप कैसा होना चाहिए ? कि अत्यंत भावना सहित हो तो उसका परिणमन में आने का अवकाश है। भावना की कमी होगी तो सिर्फ वैचारिक भूमिका की मर्यादा में अटकना हो जाएगा, वहाँ से फिर आगे जाने के लिए क्या करना ? यह एक नई समस्या खड़ी होगी। कि, अब क्या करें ? समझ में तो आ गया, लगता भी सब अच्छा है, परंतु करे क्या ? हमारा काम तो होता नहीं है। यह समस्या खड़ी होगी।

अतः ऐसी अत्यंत सावधानी जो कही वह आत्मकल्याण की तीव्र

भावनावाले को ही रह पाती है। यह बात इसमें गर्भित है। और तब ही आत्मजागृति या सावधानी रहेगी, अत्यंत सावधानी रहेगी - ऊपर-ऊपर से नहीं। और तभी सहजाकार प्रवृत्ति पर प्रहार होगा और उसके क्षीण होने का - परिक्षीण होने का प्रसंग आयेगा। यह एक जीव के परिणमन की विचार करने योग्य प्रयोजनभूत Side है। सिर्फ स्वाध्यायादि करना, सत्संगादि करना, यह इसका Positive approach जरूर है परंतु उदय प्रसंग में कैसे प्रवर्तन करना, इसका यहाँ बहुत सुंदर मार्गदर्शन है। और वह Negative side भी साथ-साथ सँभालनी जरूरी है। Positive or negative दोनों Side Simultaneously एक साथ काम करनी चाहिए। एक साथ काम करनी चाहिए। दोनों पहलू में सुधार करना चाहिए। सिर्फ वांचन-विचार करे और उदय की प्रवृत्ति में असावधानी रहे, ध्यान न रहे, खयाल न रहे तो वह वांचन-विचार निष्फल जाने में कोई देर नहीं लगेगी।

(यहाँ कहते हैं कि) 'ऐसी सहजाकार प्रवृत्ति है; जिससे जीव आवरणप्राप्त होता है।' और इस कारण से जीव आवरण को प्राप्त होता है। वैसे असावधानी में - सावधानी रहित प्रवृत्ति के कारण जीव को आवरण आता है। कौन-सा आवरण आता है ? अध्यात्मदशा के समीप न जा सके ऐसा आवरण आता है। सामान्यतः ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अंतराय और मोहनीय के आवरण का हमें अभ्यास है। परंतु अध्यात्मशास्त्र में एक नई बात आती है, 'पंचाध्यायी' नामका शास्त्र है, जिसमें स्वानुभूत्यावरण नामका आवरण लिया है। कैसा ? स्वानुभूति को आवरण हो ऐसा आवरण आता है। यानी कि, आत्मा अपने ज्ञानवेदन का ग्रहण न कर सके - पकड़ न सके, ऐसा आवरण आता है। या भेदज्ञान का प्रयोगाभ्यास न कर सके, ऐसा

आवरण आता है।

प्रश्न :- ऐसा आवरण नहीं आये, इसका उपाय क्या ?

पूज्य भाईश्री :- अत्यंत सावधानी रहे तो। ऐसी अत्यंत सावधानी अत्यंत भावना व जागृतिपूर्वक हो तो आवरण से बच सके। वरना आवरण आये बिना रहेगा नहीं। अब ऐसी प्रवृत्ति के कार्य कैसे-कैसे होते हैं ? (यह कहते हैं) **'घर का, जाति का अथवा दूसरे जैसे कामों का कारण आने पर...'** घर के कार्य होते हैं, आज रसोई में १३ नहीं ११३ चीज़ चाहिए। गुजराती में ऐसी कहावत है 'तावड़ी तेर वाना माँगे।' परंतु आज किसी की रसोई में सिर्फ तेरह चीज़ की परिस्थिति नहीं रही। (यानी कि) घर का काम भी ज्यादा रहता है, ज्ञाति का यानी कि व्यावहारिक काम भी उतना ही रहता है। क्योंकि, बेटा-बेटी, अन्य संबंधी, या ऐसा कोई भी **'...कामों का कारण आनेपर उदासीन भाव से उन्हें प्रतिबंधरूप जानकर प्रवृत्ति करना योग्य है।'** उदासीनभाव से (मतलब) नीरसता से। नीरसता कैसे आये? इसके लिए साथ-साथ दो शब्द लिए हैं कि **'प्रतिबंधरूप जानकर..'** क्या कहा? उसे प्रतिबंधरूप जानकर। जीव का यह स्वभाव है कि जहाँ उसे नुकसान होता है वहाँ उसे उत्साह नहीं आता, नीरस हो जाता है, उसका रस उड़ जाता है। पता चलना चाहिए कि मुझे नुकसान (हो रहा) है।

घर में पानी का मटका फूट गया हो और पानी चला जा रहा हो तो विचार करता है क्या? कि कोई बात नहीं बाद में देख लेंगे, अब कुछ ठीक करना होगा तो बाद में करेंगे! अरे! जिसको पानी भी नहीं जाने देना हो वह घी कहाँ से जाने देगा? पानी का नुकसान भी जिसको नहीं पुसाता है वह घी जाता हो तब विचार करेगा क्या? कि भाई, देखेंगे! अभी (नहीं) बाद में,

अभी रहने दो बाद में समय मिलेगा तब दूसरे बरतन में ले लेंगे। नुकसान देखा कि तुरंत ही उसे बंद करने की वृत्ति आती है। यह जीव का स्वभाव है।

इस प्रकार उदय प्रसंगों में घर का, ज्ञाति का या अन्य कोई भी कारण आने पर वह प्रतिबंध है, ऐसा जानकर उदासीनभाव से - नीरस परिणाम से परिणमन करना चाहिए। यह मुमुक्षु की भूमिका का निर्वेद है या मुमुक्षु की भूमिका का वैराग्य है। मुमुक्षु की भूमिका का वैराग्य मतलब ऐसा नहीं है कि, दुकान-धंधा, स्त्री-पुत्र छोड़कर जंगल में चले जाये; यह कोई मुमुक्षु की भूमिका का वैराग्य नहीं है, वह मुनिदशा का वैराग्य है। वह स्थिति ज्ञानदशा में काफ़ी आगे बढ़ जाने पर छट्टे-सातवें गुणस्थान में आये, तब की बात है। अभी कोई ज्ञानी ऐसा नहीं कहते कि तुम दुकान छोड़ दो, घर छोड़ दो, सब छोड़ दो। आत्मकल्याण करना हो तो आपको सब छोड़ना पड़ेगा। जैसे घर में टी.वी. नहीं चाहिए, सोफा-सेट नहीं चाहिए, तिज़ोरी नहीं चाहिए, दुकान बंद कर दो, ऐसा कुछ नहीं कहते। इतना जरूर कहेंगे कि, वह सब अपने स्थान में भले ही रहा तू अपने में फेरफार कर ले। कहाँ फेरफार कर ? (अपने अंदर में)।

एकबार ऐसा प्रसंग बना था। बहुत छोटी उम्र के भाइयों-बहनें (मेरे साथ) चर्चा करने आये थे। अभी तो मोडर्न लाईफ में जैसे सब जीते हैं वैसे ही जीते हो। उनके घर में जो बुजुर्ग लोग थे, उनके माता-पिता आदि सब (मेरे) संपर्क में थे। इसलिए उन लोगों ने कहा होगा कि, भाई ! यह विषय समझने जैसा है। आप लोगों को भी समझने जैसा है। हम लोग की उम्र ज्यादा हुई इसलिए हम स्वाध्याय और सत्संग में जाते हैं, ऐसा आप मत मानना।

परंतु यह तो वाकई विचार करने जैसा विषय है और आप लोग बुद्धिशाली हैं और बच्चे लोग इतने होशियार भी थे कि लाखों-करोड़ों का व्यापार कर सकते थे। माँ-बाप को निवृत्त कर दिया था कि, आप लोग आराम से जो करना चाहें करें, धंधा-व्यापार हम सँभाल लेंगे। अच्छी तरह सँभालते थे, बुद्धिशाली भी थे तो उनका ध्यान खींचा कि, यह तो आप लोगों को भी समझने जैसा है। अब, अगर उन लोगों को सीधा ऐसा ही कहा जाये कि आप इसका त्याग करो, उसका त्याग करो, तो यह बात किसी भी तरह उनके गले उतरनेवाली नहीं है। बिना समझे क्या त्याग करें ? और कैसे करें ? और करने के लिए परिणाम कैसे काम करेंगे ? इसलिए वहाँ से शुरू किया कि - घर की, दुकान की सारी चीज़ें, घर और दुकान जहाँ है वहाँ उसे अपने स्थान में रहने दो। उसमें फेरफार करने की भी जरूरत नहीं है, आपको इधर-ऊधर कुछ भी नहीं करना है। अंदर में हित-अहित के विषय का विचार करके अभिप्राय को - सही अभिप्राय को - यथार्थ अभिप्राय को घड़ने की यह भूमिका है। इसमें भी खास करके सुख-दुःख के विषय में जो निर्णय बने हुए हैं, जो भी अभिप्राय हैं, जिसे अध्यात्मदृष्टि से Mis-concept कहा जाता है। बस ! आपको सिर्फ अपने Mis-concepts को बदलना है। और उसे तो आप सोच-समझकर अवश्य बदल सकते हैं। देख सकते हैं कि इसमें भूल कहीं होती है या नहीं ? इसमें हम कहीं धोखा खाते हैं या नहीं ? आप बुद्धिशाली होकर धोखा खा जाए, यह तो लांछन जैसी बात है। हम बुद्धिवालों को कौन धोखा दे सकता है ? परंतु जीव धोखा खा जाता है। कहाँ धोखा खाता है ? कि जहाँ सुख नहीं है वहाँ उसे सुख लगता है। जहाँ सुख की गंध भी नहीं है वहाँ उसे सुख लगता

है। यह एक महत्वपूर्ण और प्रयोजनभूत विषय है। इस पर जीव विचार करे तो पहले अंदर से फिरेगा। पहले अंदर से बदलाव की जरूरत है। अंदर में बदलाव आये बिना बाहर त्याग (करे), या बाहर में फेरफार करेगा तो वह किस आधार पर टिकेगा ? वह त्याग किस आधार पर टिकेगा ? अनादि से जीव की जो चार संज्ञा हैं वो तो अभी छूटी नहीं। उन चारों संज्ञा के, चारों इच्छा के विषयभूत पदार्थों के (प्रति जाते हुए) परिणाम को दबाने से, वह कब तक दबे हुए रहेंगे ? नहीं रह सकेंगे। कभी भी उछलकर बाहर आ जायेंगे। (अतः) सम्यक् प्रकार से उनका उपशमन करने योग्य है। उनका दमन करने योग्य नहीं है किन्तु उपशमन करने योग्य है और वह सम्यक् प्रकार से करने योग्य है।

इसलिए यहाँ कहते हैं कि इन (घर आदि के कार्यों को) प्रतिबंधरूप जानकर... यानी मुझे वे किस तरह नुकसान करते हैं, यह जानने में आये तो ऐसे परिणाम के प्रति उदासीनभाव सहज आयेगा। वरना हमने पढ़ा हो कि यह तो कृपालुदेव का उपदेश है कि हमें उदासीनभाव से प्रवृत्ति करनी है, परंतु वह उदासीनता किस आधार पर लाएगा ? उदासीनता आने में आधार-बिंदु क्या है ? वास्तव में तो यह बात महत्व की है। 'प्रतिबंधरूप जानकर....' इतने जो शब्द लिये हैं, वे आत्मा को नुकसानकर्ता हैं, आवरणकर्ता हैं, यह बात खुद को प्रत्यक्षरूप से भासित होनी चाहिए, लगनी चाहिए। सिर्फ विचार करना चाहिए ऐसे नहीं, लेकिन वह Feel होना चाहिए - लगना चाहिए। उस प्रकार प्रवृत्ति कर्तव्य है।

यह पैराग्राफ बहुत अच्छा लिया है, कि जो भी धार्मिक प्रवृत्ति की जाती हैं, उन सब धार्मिक प्रवृत्तियों की निष्फलता का कारण इस एक जगह रहा है, कि उदय प्रवृत्ति में सब पूर्ववत् रखते

हैं, (भले ही) यह सब पढ़ा हो, विचार किया हो (परंतु) जैसे ही घर में या दुकान में दाखिल हुए कि परिणाम (बदल जाते हैं)। परिणाम का पूरा माहौल बदल जाता है। भीतर का वातावरण (बदल जाता है)। इतना स्नेह, इतना प्रेम, इतना राग व इतनी ही रुचि से, रस से प्रवृत्ति चलती है कि जिसके कारण यहाँ जो कुछ सुना हो, पढ़ा हो, जो भी थोड़ा-बहुत असर लिया हो वह तो शुरू के कुछ ही सेकंडों में - शुरूआत की मिनटों में ही धुल जाता है। फिर बाद में कितना आवरण आयेगा, कितना नुकसान होगा, इसका तो खुद को भी पता नहीं रहता, इसका तो हिसाब भी उसके पास नहीं है। इसलिए यह जो एक उदय का पहलू है, वह सँभालने जैसा है। और वह मुमुक्षुजीव के लिए बहुत ही प्रयोजनभूत है, ऐसा जानकर यहाँ निरूपण किया गया है।

देखो ! विशेष मार्गदर्शन (दिया) है, कि **'...उन कारणों को मुख्य बनाकर कोई प्रवृत्ति करना योग्य नहीं है;...'** उदय के कार्य - चाहे घर के हो, दुकान के हो, ज्ञाति के हो, समाज के हो, चाहे कोई भी प्रकार के हो, उसकी मुख्यतापूर्वक प्रवृत्ति करनी नहीं चाहिए - गौण करके प्रवृत्ति करनी चाहिए। यह उसमें से अनर्पित निकलता है। क्या ? कृपालुदेव का यहाँ एक बहुत ही सुंदर मार्गदर्शन है। क्योंकि, यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि, यह जो घर के या समाज के या ज्ञाति के कार्य, जिसके प्रारब्ध में जो भी हो, उसे किये बिना तो चलेगा नहीं। अब जब प्रवृत्ति कर ही रहा है, तो वह प्रवृत्ति उदासीनभाव से करें, और वह उदासीनता तभी आयेगी जब नुकसान समझ में आयेगा। उदासीनता को आने में दूसरा एक पहलू है मुख्य - गौण का, तो उसे गौण कर दो। जिसको आत्मकल्याण मुख्य हुआ है उसको उदयभाव में गौणरूप से प्रवृत्ति

सहज है। बिना मेहनत (हो जाता है)। बस ! एक आत्मकल्याण की मुख्यता आनी चाहिए। एक की मुख्यता में दूसरा सब गौण होना सहज है। यदि ऐसी मुख्यता नहीं आयी तो उदयभाव की मुख्यता हुए बिना रहेगी नहीं।

'Change of priority' (होनी चाहिए)। किसको Priority देनी है ? आत्मकल्याण को ? या आत्मकल्याण को छोड़कर दूसरा जो उदयानुसार, प्रारब्धानुसार का बाह्य जीवन है उसको ? बस ! दो ही जीवन हैं - एक आत्मकल्याण का अंतरंग जीवन और दूसरा है बाह्य जीवन जिसमें आत्मा का अकल्याण होता है। अनादि से बाह्यप्रवृत्ति और बाह्यजीवन की मुख्यता में रहकर धार्मिक प्रवृत्ति की है, इसलिए निष्फल गई है। निष्फल जाने का यह कारण रहा है। इसका यहाँ पर मार्गदर्शन है।

(अभी आगे कहा) ऐसा ही एक दूसरा प्रसंग बना था। ऐसा प्रश्न आया था। वह (प्रश्न करनेवाला) भी छोटी उम्र का भाई था। जवान आदमी था और बहुत बड़ा धंधा Abroad (परदेश) तक करता था। उसने कहा क्या करें ? हम तो इसमें एकाकार हो जाते हैं। यह सब ठीक है, कभी-कभी पढ़ना, मिलना और सुनना बन जाता है परंतु जब व्यापार-धंधे में उलझते हैं तब तो यह कुछ याद ही नहीं आता है। लगता भी है कि यह सब ठीक नहीं हो रहा है लेकिन करें भी क्या ? जहाँ लाखों-करोड़ों की लेती-देती हो, इतना ही नहीं अभी तक जिसकी गंभीरता और जिसका मूल्य बहुत समझ रखा हो, जिसके कारण काफ़ी Sincerity (सावधानी) से धंधा करते हो तो अब क्या करना ? वहाँ तो रस आ ही जाये, दूसरा कोई उपाय नहीं है तो करें भी क्या ? लेकिन सही बात तो यह है कि हमें मुख्यता किसको देनी है !

हम लोग तो स्वाध्याय में - नित्यस्वाध्याय में यह विषय खास लेते हैं, कि दो ही Priority हैं। एक First और एक Last. Second priority कोई है नहीं। जब उदय के कार्य, सांसारिक कार्य First priority में हैं तो धर्म-साधनरूप बाह्य प्रवृत्ति जितनी भी की जाएगी सब Last priority में की जाती है। जिसके कारण आत्मकल्याण नहीं सधता। फिर चाहे स्वाध्याय करे, भक्ति करे, पूजा करे चाहे दान दे, तत्त्वज्ञान की पुस्तकें पढ़े या कुछ भी करे, उपवास - संयमादि जो भी करे, सब Last priority में होता है। अगर (आत्मकल्याण) Top priority में हो First priority में हो तो उदय के कार्य Last priority में जाने चाहिए। यहाँ Second priority का सवाल नहीं है। इसप्रकार Change of priority होने की जरूरत है। फिर देखिये ! कार्य तो जो होते हैं वे उदय अनुसार होते हैं। नफा-नुकसान भी उदय अनुसार होता है, वह कोई बुद्धि अनुसार नहीं होता। यदि प्रयत्न अनुसार होता तो कोई किसी दूसरे को बाज़ार में बैठने ही नहीं देता। अपने हरीफ को कोई बैठने नहीं देता। यहाँ तो गड़बड़ी बहुत है। परंतु किसी की बुद्धि के अनुसार या इच्छानुसार कुछ नहीं होता। होता तो सबका पूर्व प्रारब्धयोगानुसार ही है, परंतु इसको मुख्यता देकर जीव इतना रस लेता है... इतना रस लेता है... इतना रस लेता है कि पूरा-पूरा डूब जाता है। नतीजा यह आता है कि ऊपर-ऊपर से आत्मकल्याण करने योग्य जो कुछ समझ में आया हो वह कार्य करता है, जिसको जो ठीक लगे वह करता है, मतलब कि स्वच्छंद अनुसार, ठीक लगे वह करना इसका अर्थ क्या है ? कि ज्ञानी की आज्ञानुसार नहीं बल्कि स्वच्छंद अनुसार। वह कभी सफल नहीं होता और अनंतकाल उसमें ही गया है। इस जीव ने धर्म प्रवृत्ति भी स्वच्छंद अनुसार की है।

यानी कि अपने मन चाहे प्रकार से की है। ज्ञानी की आज्ञा से नहीं की।

एक जगह बहुत अच्छी बात ली है। कृपालुदेव ४६६ पत्र में एक बहुत सुंदर मार्गदर्शन देते हैं। ४६६ पत्र, पत्रा - ३८९, चौथा पैराग्राफ नं - ६ दिया है। 'जीव अपनी कल्पना से मान लें कि ध्यान से कल्याण होता है या समाधि से या योग से या ऐसे-ऐसे प्रकार से, परंतु उससे जीव का कुछ कल्याण नहीं होता। ' कितना सुंदर मार्गदर्शन दिया है !! 'जीव का कल्याण होना तो ज्ञानीपुरुष के लक्ष्यमें होता है, और उसे परम सत्संग से...' यहाँ सिर्फ 'सत्संग' शब्द नहीं लिया, परम सत्संग का अर्थ ऐसा है कि जो जीव अत्यंत सुपात्र होकर ज्ञानीपुरुष के समीप जाता है, उनका अंतेवासी होकर चरण सान्निध्य का सेवन करता है, उस जीव को सत्संग नहीं अपितु ज्ञानी से उसको परम सत्संग मिलता है। यानी कि एकदम उसका आत्मकल्याण हो, ऐसे रहस्य उसको ज्ञानी के द्वारा मिलते हैं। 'उसे परम सत्संग से समझा जा सकता है;...' ऊपर-ऊपर के सत्संग से भी यह बात समझ में नहीं आती है। 'इसलिए वैसे विकल्प करना (मुमुक्षु को) छोड़ देना चाहिए। ' छोड़ देना चाहिए वरना उन्मार्ग पर चढ़ने में देर नहीं लगेगी। ये सब लोग जाते ही हैं न ? विपश्यना और प्रेक्षा में (जाते हैं)। यहाँ कृपालुदेव मना करते हैं, कि नहीं, तू ज्ञानीपुरुष की आज्ञा पर चल। ध्यान का Stage सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बाद आता है। या सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के अनुसंधान में आखरी क्षणों का है। अथवा सम्यक् सन्मुखता में आने के बाद के Period का है। इसके पहले - आत्म पदार्थ ज्ञान में आने के पहले ध्यान किसका करेगा ? किस चीज का ध्यान करेगा ? कल्पना में चढ़ जाएगा।

सत्संग बिना ध्यान तरंगरूप होता है - १२८ (पत्र) में लिया है। सत्संग बिना ध्यान तरंगरूप होता है। सत्संग की उपासना पहले करो, ऐसा कहते हैं। आत्मपदार्थ का निर्णय होने के पश्चात् पहचानपूर्वक इसमें एकाग्रता का प्रसंग आता है। इसके पहले जो ध्यान होगा वह तो पुद्गल का होगा। या शरीर को ऐसा करो, गरदन ऐसे रखो, श्वासोच्छ्वास को ऐसे करो, इसका ऐसे करो, पवन को ऐसे रोको, ऐसे छोड़ो, ऐसा करो - वैसा करो, देखते रहो ! लेकिन क्या इसतरह पुद्गलों को देखते रहना है या आत्मा को देखना है ? आत्मा तो ज्ञान में आया नहीं, देखेगा क्या ? पहले तो यह देखना है कि पहचान कैसे हो ? पहचानपूर्वक प्रतिभास आये, भावभासन हो, तब ध्यान होने का प्रसंग आता है।

प्रश्न : ध्यान और योग एक ही है ?

पूज्य भाईश्री : नहीं। उसमें योग के प्रयोग (हैं वे) में मन वचन काया के प्रयोग हैं और ध्यान है वह परिणाम का प्रयोग है - ऐसा है। ध्यान है वह Concentration - एकाग्रता का प्रयोग है। जब कि योग है वह मन-वचन-काया की प्रवृत्ति का प्रयोग है। अभी एक साथ दोनों को जोड़कर, ध्यान और योग के प्रयोग द्वारा परिणाम की चंचलता कम करने के प्रयोग कराये जाते हैं। परंतु ऐसे प्रयोग इस भूमिका का विषय नहीं है। अक्रम से वस्तु की प्राप्ति करने जाये तो वस्तु प्राप्त नहीं होती। क्रम से वस्तु की सिद्धि होती है। क्योंकि यह एक विज्ञान है। विज्ञान में तो विज्ञान अनुसार उसका वैज्ञानिक Process होना चाहिए। हलवा बनाना हो तो घी, आटा और शक्कर तीनों को एक साथ चूल्हे पर नहीं चढ़ाया जाता, पहले आटे को सेकना पड़ता है, दाना बराबर सिक जाने पर उसमें शक्कर का पानी डाला जाता है। एक साथ तीनों

को चूल्हे पर चढ़ाने से तो तीनों चीज़ें बिगड़ती हैं। न तो खाने जैसी रहेगी नहीं इस्तेमाल करने जैसी। समय व जलावन दोनों बिगड़ेंगे। कुल मिलाकर पाँच (वस्तु) बिगड़ेगी। तीन तो मूल चीज़ बिगड़ेगी, साथ में समय और जलावन भी बिगड़ेंगे। वह सारी नीव बिना की चुनाई है। इससे कभी किसी को लाभ नहीं होता।

इसलिए यहाँ ऐसा कहते हैं कि, 'उन कारणों को मुख्य बनाकर कोई प्रवृत्ति करना योग्य नहीं है;...' उन कारणों को अर्थात् उदयरूप भावों को। उसका विचार करके, अभिप्राय को घड़कर अपने आत्मकल्याण का ध्येय निश्चित करके, दृढ़रूप से निश्चित करके उदय के कार्यों को गौण कर देना चाहिए। (कुछ भी) छोड़ने का अभी प्रसंग नहीं है। गौण कर दे तो बहुत बड़ी बात है, फिर छूटना सहज है। परंतु (परिणाम में) मुख्यता रह गई और बाहर में त्याग कर दिया, मुख्यता छोड़े बिना बाहर में त्याग कर दिया, तो वह त्याग कभी सफल नहीं होता है। इसलिए कहा कि यह ज्ञानीपुरुष के लक्ष्य में होता है कि जीव का कल्याण कैसे हो ? अपने आप स्वच्छंद से प्रवृत्ति करे या अज्ञानी गुरु के मार्गदर्शन से या दिग्दर्शन से प्रेरित होकर करे तो भी जीव को नुकसान होने का संभव है।

'...और ऐसा हुए बिना प्रवृत्ति का अवकाश प्राप्त नहीं होता।' इस प्रकार प्रतिबंधरूप नुकसान या आवरण का कारण जानकर इसकी गौणता न की जाये तो प्रवृत्तिमें से अवकाश यानी कि खाली जगह ही प्राप्त नहीं होगी। अब भीतर में अवकाश ही नहीं होगा तो ये सारी बातों का असर कहाँ होगा ? स्थान कहाँ मिलेगा ? आत्मकल्याण के लिए सम्यग्दर्शन हम चाहते हैं, परंतु सम्यग्दर्शन देनेवाला कोई मिले तो रखेंगे कहाँ ? इसकी कोई व्यवस्था बिठायी

है ? जगह तो करनी होगी या नहीं ? घर में गहने लाने हो तो गहने कहाँ रखेंगे यह पहले नक्की करना होगा। उसे खिड़की में या इधर-उधर कोई नहीं रखता। पहले इसकी व्यवस्था (करते हैं)। क्या अलमारी है ? अलमारी में खानें हैं ? चाबी है ? सब बराबर है ? फिर महँगी चीज़ घर में लायेंगे। वैसे सम्यग्दर्शन आया तो उसे रखेंगे कहाँ यह पहले नक्की करना होगा। सिर्फ 'चाहिए' इतना काम में नहीं आयेगा। उसे कहाँ रखेंगे ? कैसे रखेंगे ? यह सबके लिए पहले पात्रता में आना होगा। वरना इसमें अवकाश नहीं होता। **'ऐसा हुए बिना प्रवृत्ति का अवकाश प्राप्त नहीं होता।'** प्रवृत्तिमें से अवकाश ही नहीं मिलेगा। बाह्य प्रवृत्ति छूट गई हो और स्वाध्याय में बैठा हो परंतु भीतर में चलता रहेगा उसका क्या करेंगे ? भीतर से जुड़ान - Connection यूँ का यूँ कायम हो उसका क्या करेंगे ? यह बात मुख्यता और गौणता में फेरफार हुए बिना भीतर में कैसे स्पर्श करेगी ? (उपदेश का) ऊपर-ऊपर का असर रहेगा नहीं, और अंदर में बात स्पर्श करेगी नहीं। और अभी तक, अनंतकाल जिस तरह निष्फलता में गँवाया है (इसी तरह)। यह एक फिर से मिला हुआ, अनंतकाल बाद मिला हुआ मनुष्यभव, वह भी निष्फल ही साबित हो जाएगा। ऐसा न हो इसलिए ज्ञानीपुरुषों ने यह करुणा की है कि देखो ! सुनने जैसा है ! मुख्य-गौण का विषय काफ़ी विस्तारवाला है, और काफ़ी गहरा भी है परंतु यह समझने जैसा विषय है। मुख्य-गौण कैसे होता है ? किस तरह होता है ? उसका कारण क्या है ?

दो-तीन मिनट हैं, संक्षेप में ले लें। जब तक जीव ध्येय नहीं बदलता है; अनादि से जीव को संसार का ध्येय है और मोक्ष का ध्येय नहीं हुआ। ध्येय दो ही होते हैं। तीसरा ध्येय नहीं है।

संसार के ध्येय की जगह मोक्ष का ध्येय होगा तभी मुख्यता आयेगी, वरना मुख्यता आयेगी नहीं और अभिप्राय पलटेगा नहीं। और ऐसी मुख्यता जब तक नहीं आयेगी तब तक संसार प्रवृत्ति मुख्यरूप से होती रहेगी व धार्मिक प्रवृत्ति गौणरूप से होती रहेगी। (ऐसे तो कभी) जीव का कल्याण नहीं होता। यह परिस्थिति होती है। इस जगह पर कृपालुदेव ने अत्यंत महत्वपूर्ण बात कर दी है, अत्यंत महत्व की बात की है। यह पहलू जब तक ठीक नहीं करेंगे तब तक धार्मिक क्षेत्र में की गई प्रवृत्ति के किसी भी पहलू पर असर आना संभव नहीं है, शक्य नहीं है। यह अच्छी तरह समझ लेना जरूरी है। विशेष लेंगे, समय हुआ है।



धारणा और विचारमें निज स्वरूपका अनुभव नहीं हो सकता। जिस प्रकार परद्रव्य और परभावको, इसकी भिन्नता होने पर भी जीव ग्रहण करके उपाधि भोगता है, वैसे स्वद्रव्यको लक्षण द्वारा-वेदन द्वारा ज्ञानमें स्वके रूपमें ग्रहण करने पर अनुभव हो सकता है। इसलिए निमित्त, राग, परलक्षी उघाड़, धारणा - इत्यादिकी अपेक्षा छोड़कर निजावलोकनमें आना चाहिए। रुचि द्वारा पदार्थका ग्रहण होता है। (पूज्य भाईश्री - अनुभव संजीवनी-८८७)

प्रवचन - ८ दि. ३०-७-१९९४ - पत्रांक-४४९ (४)

(श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत - पत्रांक - ४४९ चलता है)। चौथे पोस्टकार्ड में बहुत महत्वपूर्ण विषय शुरू होता है। जो-जो मुमुक्षु आत्मा का निर्णय करने में, निश्चय करने में, आत्मा की पहचान करने में भूल करता है, वह किस कारणवश भूल करता है, यह विषय इस पोस्टकार्ड में निरूपित है। 'आत्मा को भिन्न-भिन्न प्रकार की कल्पना से विचार करने में लोकसंज्ञा, ओघसंज्ञा और असत्संग ये कारण हैं; जिन कारणों में उदासीन हुए बिना, निःसत्त्व ऐसी लोकसंबंधी जपतपादि क्रिया में साक्षात् मोक्ष नहीं है, परंपरा मोक्ष नहीं है, ऐसा माने बिना, निःसत्त्व असत्शास्त्र और असद्गुरु, जो आत्मस्वरूप के आवरण के मुख्य कारण हैं; उन्हें साक्षात् आत्मघाती जाने बिना जीव को जीव के स्वरूप का निश्चय होना बहुत दुष्कर है, अत्यंत दुष्कर है।' काफ़ी लंबा वचनामृत है। हमलोग एक-एक बात पर स्वाध्याय करेंगे।

'आत्मा को भिन्न-भिन्न प्रकार की कल्पना से विचार करने में....' क्या कहते हैं यहाँ ? कि, आत्मा कोई कल्पना का विषय नहीं है, कल्पना करने का कोई विषय नहीं है। परंतु आत्मस्वरूप संबंधी विचार करते-करते कल्पना हो जाती है। आत्मा अरूपी पदार्थ है इसलिए वह कोई इन्द्रिय का विषय नहीं है, इन्द्रियज्ञान का विषय नहीं है। पाँच इन्द्रियाँ जो हैं वे रूपी पदार्थों को जानने में सक्षम

हैं। उनकी जो क्षमता है, योग्यता है वह रूप को, रस को, गंध को, वर्ण को, शब्द को जानने की है। जब कि आत्मा में इनमें से कुछ नहीं है। (क्योंकि) वह अरूपी पदार्थ है। मन द्वारा आत्मा की कल्पना करने से भी आत्मपदार्थ ज्ञान में नहीं आता है या अनुभव में नहीं आता है। तो अब आत्मपदार्थ का निर्णय करने के लिए क्या करना चाहिए ? यद्यपि यहाँ उस विषय का प्रतिपादन नहीं किया है किन्तु किस तरह उलटा निर्णय - कल्पना हो जाती है, यह विषय यहाँ चला है। ७५१ (पत्र में) यह बात अवश्य की है कि परमार्थ की स्पष्ट अनुभवांश से प्रतीति होती है तब आत्मा की पहचान होती है। जिसको दूसरा समकित कहा है। वह अनुभवांश है उसमें वेदन अंश है। वेदन अंश से आत्मा ग्रहण होता है, आत्मा का अस्तित्वग्रहण होता है। ऐसा नहीं होता है तब, उस प्रकार के परिणाम के अभाव में आत्मा को मन द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार की कल्पना में लिया जाता है। और ऐसी कल्पना होने का कारण क्या है ? इसका निरूपण यहाँ किया है। आत्मा का यथार्थ निश्चय होने के बजाय कल्पना हो जाती है। क्यों ऐसा होता है ? कल्पना नहीं करनी है फिर भी ऐसा क्यों होता है ? ऐसा (होने में), (कल्पना)पूर्वक विचार करने में एक कारण है लोकसंज्ञा, दूसरा है ओघसंज्ञा और तीसरा असत्संग है। ऐसे तीन कारण हैं।

इन तीन कारणों का विशेषतः विचार कर्तव्य है। लोकसंज्ञा किसको कहना ? लोकसंज्ञा के परिणाम कैसे होते हैं ? ओघसंज्ञा के परिणाम कैसे होते हैं ? और असत्संग में रुचिवाले के परिणाम कैसे होते हैं ? यह जब तक समझ में नहीं आयेगा तब तक आत्मस्वरूप की पहचान तो नहीं होगी अपितु कल्पना होगी। जो दर्शनमोह की तीव्रता या मिथ्यादर्शन की प्रगाढ़ता सहित गृहीत मिथ्यादर्शन में

ले जाती है। आत्मस्वरूप यह परम प्रयोजन का विषय है। प्रयोजनभूत विषय में बुद्धिपूर्वक अन्यथा कल्पना होना, उसे गृहीत मिथ्यादर्शन कहते हैं। अगृहीत मिथ्यात्व तो अनादि से सभी जीवों को है। परंतु जीव जब मनुष्यगति में आता है तब उसकी जिम्मेदारी बढ़ती है। चारगति जो हैं इनमें मनुष्यगति जो है वह मोक्ष पाने के लिए, मोक्षमार्ग पाने के लिए बहुत सानुकूल परिस्थिति है। यह अन्य तीन गतियों से उच्च गति है। परंतु इसमें भूल होने की शक्यताएँ भी अधिक हैं। चार गति में (मनुष्य गति का) स्तर जब ऊँचा है तो जिम्मेदारी भी उच्च स्तरवाले की ज्यादा होती है। निम्न स्तरवालों की जिम्मेदारी हमेशा कम होती है। इसप्रकार यहाँ मनुष्यत्व में यदि मोक्षमार्ग को ग्रहण करने में जीव किसी भी प्रकार से बेदरकार रहे, सावधानी व दरकारपूर्वक न रहे, अत्यंत दरकारपूर्वक प्रवृत्ति करनी चाहिए, अगर वैसे नहीं चला तो मोक्षमार्ग पाने के बजाय उलटा गृहीत मिथ्यादर्शन में चला जाएगा।

जो कृपालुदेव ने पत्रांक - ६८० में कहा कि, हे ! भूतकाल की भ्रांति में भटक रहे जीवों ! वर्तमान के महावीर को भूलकर भूतकाल के महावीर को खोजने कहाँ जाते हो ? तो जो कहा वह किसको कहा ? कि जो महावीर को खोजते थे उनको कहा। व्यापार-धंधा और कारखानेवालों को संबोधन नहीं किया। किसको संबोधन किया है ? चैत्र सुदी १३ का दिन, महावीरस्वामी का जन्मकल्याणक दिन था। और उस दिन जो रथयात्रा चली उसे देखकर उन्हें विचार आया कि यह 'जय महावीर' 'जय महावीर' करते हैं लेकिन वास्तव में इसमें बात कोई दूसरी है। वास्तव में तो ये लोग भटक रहे हैं। अन्यत्र भटक रहे हैं। सही जगह छोड़कर उलटी जगह भटकते हैं। 'वर्तमान में विद्यमान वीर को भूलकर,...

उसमें सब जगह व..व लिया, अब भ...भ लेते हैं। 'भूतकाल की भ्रांति में वीर को खोजने के लिए भटकते जीवों को श्री महावीर का दर्शन कहाँ से हो ?' कि, नहीं होगा। वे तो विपरीत रास्ते पर चढ़ जाते हैं। क्यों ? 'कल्याण के मार्ग को और परमार्थस्वरूप को यथार्थतः नहीं समझनेवाले अज्ञानी जीव अपनी मति कल्पना से...' यहाँ देखो ! 'कल्पना' शब्द लिया है। अपनी मति कल्पना से.. '...मोक्षमार्ग की कल्पना करके...' मोक्षमार्ग की भी कल्पना करते हैं, और आत्मस्वरूप की भी कल्पना करते हैं '...विविध उपायों में प्रवृत्ति करते हैं फिर भी...' ये धर्म के विविध उपाय मतलब अनेक प्रकार के धार्मिक उपायों में प्रवृत्ति करते हैं फिर भी 'मोक्ष पाने के बदले संसार में भटकते हैं; यह जानकर हमारा निष्कारण करुणाशील हृदय रोता है।' निष्कारण करुणा से हमारा हृदय रो रहा है कि अरेरे...! बेचारे मोक्षमार्ग के बजाय उन्मार्ग में भटक गये हैं। मार्ग पाने के बजाय उन्मार्ग में चढ़ना, उसमें कल्पना होती है। ऐसी कल्पना क्यों हुई जीव को ? कि इसके तीन कारण हैं।

एक लोकसंज्ञा है (यह) सब से बड़ा कारण है। उन्होंने किसी अन्य पत्र में तो लोकसंज्ञा को कालकूट ज़हर कहा है। क्या कहा ? कालकूट ज़हर कहा है !! लोकसंज्ञा माने क्या ? लोगों की नज़र में धार्मिक प्रतिष्ठा, धार्मिक स्थान बनाये रखना, ऐसी जो जीव की वृत्ति है उसे लोकसंज्ञा कहते हैं। 'मैं ऐसा करूँगा तो लोगों को अच्छा लगेगा।' समाज में अच्छा दिखाने के लिए कोई भी धार्मिक प्रवृत्ति करना यह लोकसंज्ञा है। लोगों की नज़र में अपना धार्मिक स्थान टिकाये रखने के लिए कोई भी प्रवृत्ति करना, वह लोकसंज्ञा है। आत्मकल्याण का ध्येय नहीं होने से, ऐसी एक प्रवृत्ति का प्रकार जाने - अनजाने में जीव से हो जाता है। यह लोकसंज्ञा की प्रवृत्ति

जीव को आत्मस्वरूप का विचार करते-करते कल्पना में ले जाती है। ऐसा क्यों (हुआ) ? (क्योंकि) आत्मस्वरूप का विचार तो आत्मकल्याणार्थ करना था इसके बजाय लोगों की दृष्टि को मुख्य रखकर विचार किया। किसी भी धार्मिक प्रवृत्ति करते हुए लोगों पर प्रभाव डालना, ठीक! इसमें फिर सामूहिक शास्त्र वांचन करनेवाले की जिम्मेदारी बढ़ जाती है। शास्त्र वांचन इसप्रकार करना कि लोगों पर प्रभाव पड़े। (यहाँ कहते हैं) बिलकुल नहीं। आत्मकल्याण कैसे हो ? इस दृष्टिकोण को साध्य करके, मुख्य करके कोई भी धार्मिक प्रवृत्ति होनी चाहिए। वरना लोगों पर प्रभाव डालने के लिए दान देना, शास्त्रवांचन करना या भक्ति करना या कोई भी धार्मिक क्रिया लोगों में खुद की महत्ता के हेतु से करना, उसमें आत्मकल्याण के हेतु का बिलकुल अभाव है। और इसको कृपालुदेव ने किसी एक पत्र में कालकूट ज़हर कहा है।

पत्रांक - ५१६ में ऐसे अभिप्राय से, ऐसे आशय से एक बात चली है कि जीव ने अभी तक जो भी धार्मिक क्रिया की है, वह लोकसंज्ञा से ही की है। आत्मकल्याण के दृष्टिकोण से नहीं की, अपितु लोकसंज्ञा से की है। ५१६ पत्र में आखरी पैराग्राफ में नीचे लिया है। **‘यदि ऐसा न किया जाय तो प्रायः ऐसा लगता है कि अभी इस जीव की मुमुक्षु पद में यथायोग्य अभिलाषा नहीं हुई है,...**’ क्या कहते हैं ? व्यवसायादि उदयकार्यों में रुचि से प्रवृत्ति करता है ऐसे जीव को वह रुचि का विलय होना चाहिए - ऐसी रुचि छोड़ने योग्य है। यदि ऐसा नहीं किया गया तो प्रायः ऐसा लगता है कि अभी इस जीव की यथायोग्य जिज्ञासा मुमुक्षुपद के लिए नहीं हुई। यहाँ लिखा है **‘...अथवा तो यह जीव मात्र लोकसंज्ञा से कल्याण हो, ऐसी भावना करना चाहता है,...**’ लोकसंज्ञा

से कल्याण करना हो (तो वह) तो कभी नहीं होगा। 'परंतु कल्याण करने की अभिलाषा...' या भावना 'उसे है ही नहीं; क्योंकि दोनों जीवों के समान परिणाम हो, और एक को बंध हो, दूसरे को बंध न हो, ऐसा त्रिकाल में होना योग्य नहीं है।' एक जीव छूटता हो, दूसरा जीव बंधता हो तब (दोनों के) परिणाम एक-से हो ऐसा कभी नहीं बनता। दोनों के परिणाम विरुद्ध जाति के हैं। प्रवृत्ति भले ही ऊपर-ऊपर से एक-सी दिखती हो।

अब, लोकसंज्ञा से विचार करने में कल्पना क्यों होती है ? कि, लोगों पर प्रभाव डालने के चक्कर में कोई नई कल्पित बात उठाने का प्रकार बन जाता है, कि आत्मा ऐसा है, आत्मा वैसा है। परंतु यथार्थरूप से अंतर खोजपूर्वक, अपना अंतःतत्त्वस्वरूप, परमात्म स्वरूप कैसा है ? ऐसा लोकसंज्ञा के परिणाम में बिलकुल नहीं रहता है। अतः इस विषय में विशेषरूप से दरकार रखने योग्य है। (देखना चाहिए) कि यह जीव कहीं लोगों को नज़र में रखकर तो कोई धार्मिक प्रवृत्ति नहीं करता ? क्योंकि अभी तक ऐसा हुआ है। और इसलिए निष्फलता हुई है। जाने-अनजाने में जिस समाज का परिचय होता है उस समाज में, वह समाज उसकी कीमत करेगा कि नहीं ? वह समाज क्या कहेगा ? ऐसी जाने-अनजाने में भी भूल होती है। यह बात तब भूल जाते हैं कि, मैं सिर्फ आत्मकल्याण करने के लिए इस क्षेत्र में (आया हूँ)। मेरा प्रवेश (इसी हेतु से) है। यह बात जब विस्मृत हो जाती है तब लोकसंज्ञा - लोकदृष्टि हो जाती है।

एक वचनामृत है न ! लोकसंज्ञा जिसकी जिंदगी का लक्ष्यबिंदु है वह जिंदगी चाहे जैसी श्रीमंताईवाली हो, विद्वतापूर्ण हो, चाहे जैसी भी हो, उसके परिणाम में आत्मशांति नहीं आयेगी। परंतु

आत्मशांति जिसकी जिंदगी का लक्ष्यबिंदु है, वह जिंदगी भले ही निर्वस्त्र हो, निर्धन हो, चाहे कैसी भी हो, इससे आत्मशांति की उत्पत्ति होगी। यह लोकसंज्ञा एक प्रकार का ज़हर है और जैसे ज़हर की बोतल को हाथ लग जाये तो भी तीन बार साबुन से हाथ धोकर फिर खाना खाने बैठते हैं ! Poison की ज़हरीली बोतल हो; ऐसी दवाईयाँ भी आती हैं, (जिनका स्पर्श भी हो जाय तो) खाना खाने के पहले तीन बार हाथ को अच्छी तरह साबुन से धो लेते हैं। कितनी दरकार रखते हैं ? क्योंकि शरीर बचाना है। यहाँ तो आत्मा को बचाना है। कितनी दरकार रखनी चाहिए ? दुनिया में हीरे का व्यापार बहुत दरकारपूर्वक करना पड़ता है। थोड़ी-सी भूल हो जाय, तो बड़ा फ़र्क पड़ जाता है। उसे तौलने का तराजू भी, आज-कल तो Electric - balance सब जगह चलते हैं। फिर भी उसके पल्ले को हवा नहीं लगनी चाहिए। इसके लिए दूसरा काच का घर बनाना पड़ता है। इतनी ज्यादा सावधानी क्यों ? क्योंकि बड़ा फ़र्क पड़ जाता है। यहाँ यह धर्म का व्यवसाय तो इससे भी ज्यादा (मूल्यवान) है। धर्म का क्षेत्र इससे भी ज्यादा जिम्मेदारीवाला और मूल्यवान चीज़ है, ऐसा समझ कर चलना पड़ता है। ऐसे ही असावधान होकर चले तो लाभ होने के बजाय नुकसान होने की परिस्थिति यहाँ बहुत है - अत्यंत है। अतः इस विषय में विशेष सावधानी रखने योग्य है कि, कहीं लोकदृष्टि तो मुख्य नहीं हो रही है ? ऐसी विशेष दरकार रखनी आवश्यक है।

अब ओघसंज्ञा, ओघसंज्ञा का अर्थ है बिना विचार किये कोई भी क्रिया करना, उसे ओघसंज्ञा कहते हैं। एक तो जैसे संप्रदाय में जो लोग क्रियाकांड में रत हैं, वे ओघसंज्ञा से क्रिया करते हैं। चाहे वह क्रिया तपश्चर्या की हो, चाहे वह क्रिया भक्ति या

शास्त्र स्वाध्याय की हो, (परंतु) ओघसंज्ञा से जो भी क्रिया होती है उसमें भी आत्मस्वरूप की कल्पना होती है। विचार करते-करते ओघसंज्ञा से कल्पना न रहे इसके लिए क्या करना चाहिए ? यह एक विचारणीय प्रश्न है। क्योंकि, आत्मा एक अनुभवगम्य पदार्थ है सिर्फ विचारगम्य पदार्थ नहीं है। आत्मज्ञान है वह आत्मा का अनुभवज्ञान है। वह आत्मा का सिर्फ विचारज्ञान नहीं है। ऐसा होने से जब तक विचारदशामें से अनुभव पद्धति की दिशा में प्रवेश न हो तब तक ओघसंज्ञा नहीं मिटती है। क्योंकि विचार में या तो आत्मस्वरूप विषयक अनुमान करना पड़ता है, या तर्क करना पड़ता है या युक्ति लगानी पड़ती है या उपमा देकर नक्की करना पड़ता है या शास्त्र जो कहे वह यँ ही मान्य रखना पड़ता है या न्याय - Logic से कुछ न कुछ विचार करेगा। परंतु ऐसे विचार करने में ओघसंज्ञा से कल्पना होने का विशेष अवकाश है। अतः इस ओघसंज्ञा मिटाने के लिए आत्मा अनुभवगम्य पदार्थ होने से, अपने परिणामन में - ज्ञान में अनुभव क्या है ? उस प्रक्रिया में अनुभव के प्रयोग में चढ़ना होगा। जब तक अनुभव के प्रयोग में चढ़ना नहीं होगा तब तक ओघसंज्ञा मिटने का कोई अवसर नहीं है, कोई प्रसंग नहीं आयेगा।

प्रश्न :- ओघसंज्ञा लँबे समय तक रहने से फिर लोकसंज्ञा आती है न ?

पूज्य भाईश्री :- दोनों के बीच कारण-कार्य का संबंध तो नहीं है, क्योंकि लोकसंज्ञा अलग कारण है, ओघसंज्ञा अलग कारण है। यहाँ तो जो जीव आत्मा का विचार करते हैं, उन्हें आत्मा समझने में ओघसंज्ञा न रहे, इसके लिए क्या करना ? यह विषय विचारणीय है। लोकसंज्ञा का प्रकरण अलग है। यह प्रकरण थोड़ा अलग

है। परंतु इसमें दरकार रखनी चाहिए। अगर दरकार नहीं रखी, दरकार न रही तो आत्मा संबंधित जो कुछ श्रवण, वांचन, विचार होगा उसमें ओघसंज्ञा से जो निर्णय होगा वह निर्णय कल्पित होगा और वह गृहीत मिथ्यात्व का एक स्वरूप है। क्योंकि यह विषय प्रयोजनभूत है इसलिए।

जो-जो तत्त्वज्ञान के शास्त्र हैं, उनमें आत्मस्वरूप का निरूपण है। मन और बुद्धि द्वारा उस आत्मस्वरूप का विचार किया जाता है लेकिन अनुभव द्वारा अनुभव में लेने का प्रयत्न नहीं किया जाता है वहाँ ओघसंज्ञा उत्पन्न हो आती है। शास्त्र में जिस आत्मस्वरूप का निरूपण किया है वह अनुभवी पुरुषों ने किया है। उस निरूपण के पीछे उनकी पार्श्वभूमिका - उनका Back-ground जो है - वह अनुभव है। जो बात अनुभव से कही गई हो वह बिना अनुभव समझ में कैसे आये ? यह सीधी सादी समझ सके ऐसी बात है। जो बात अनुभवपूर्वक कही गई है, उस बात का अनुभवपूर्वक अनुभवज्ञान में अनुभव करना चाहिए। जब तो वह अनुभवज्ञान सच्चा। परंतु अनुभवज्ञान को छोड़कर सिर्फ विचार से उसका निर्णय किया जाये तो ओघसंज्ञा में उसकी कल्पना होती है और ऐसे प्रयोजनभूत विषय में बुद्धिपूर्वक होनेवाली नई कल्पना को गृहीत मिथ्यादर्शन कहने में आता है। जब मिथ्यादर्शन विशेष गाढ़ होता है तब वह अगृहीतमें से गृहीत हो जाता है। ऐसी इसमें एक गंभीर परिस्थिति है। अतः धर्म के क्षेत्र में किसी भी प्रवृत्ति करनेवाले जीव की जिम्मेदारी विशेष है। उसे देखना होगा कि कहीं मैं सन्मार्ग के बदले उन्मार्ग पर तो नहीं चला गया ? अन्यथा मार्ग पर तो नहीं चल रहा हूँ ? ऐसी यदि दरकार नहीं रखी गई तो यह ओघसंज्ञा से संप्रदाय में जो गड़ेरिया प्रवाह चलता है उस गड़ेरिया प्रवाह में अपना नंबर

भी समझ लेने जैसा है। यह परिस्थिति होगी। इस पोस्टकार्ड में कृपालुदेव ने बहुत महत्वपूर्ण ये सब बातें लिखी हैं। काफ़ी महत्वपूर्ण बातें लिखी हैं। क्योंकि ओघसंज्ञा से जीव चल ही रहा है, मानता है कि मैं धर्म करता हूँ या धर्म पाने के लिए कुछ न कुछ इसके कारण का सेवन करता हूँ। (इसतरह) पूरा का पूरा ओघसंज्ञा में चलता है। यह अमूल्य मनुष्यभव को गवाने जैसी बात है।

तीसरा कारण है - असत्संग। सत्संग के अलावा दूसरे मनुष्यों के संग की रुचि को असत्संग कहते हैं। फिर से, सन्मार्ग पर चढ़ने के लिए जिसका संग करना चाहिए, ज्ञानीपुरुष या मोक्षार्थी जीवों का सत्संग करना चाहिए, उसकी रुचि होनी चाहिए। इसकी रुचि के अभाव में लौकिकजनों का, सगे-संबंधियों का, किसीका भी संग करने की रुचि है वह असत्संग का प्रसंग है। और ऐसी रुचिवाला आत्मस्वरूप का विचार करने जाएगा तो कल्पना कर बैठेगा। देखो ! कितनी गंभीरता है ! एक तरफ से (वह जीव) आत्मस्वरूप का विचार करनेवाला है, दूसरी ओर से उसे असत्संग की रुचि है, असत्संग का विशेष प्रसंग है, असत्संग में विशेषतः रहता भी है, तो उसकी आत्मस्वरूप के विचार में कल्पना हो जाएगी। अतः संगदोष जो है उसे आत्मस्वरूप का विचार करने में कल्पना होने का कारण जानकर किसीका भी संग करने की रुचि या भावना के विषय में विशेष गंभीरता रखनी आवश्यक है। वरना, असत्संग के कारण जीव को आत्मस्वरूप का यथार्थ निर्णय नहीं होता, पहचान नहीं होती, फिर अनुभव होने का तो खैर प्रश्न भी नहीं है।

एक तरफ आत्मस्वरूप के विचार हेतु सत्शास्त्र, सत्पुरुष के वचनों का, तत्त्वज्ञान का अभ्यास इत्यादि चलता हो, और दूसरी तरफ जिसका संग नहीं करने योग्य हो उसके संग की रुचि

रहती हो तो विपरिणाम आता है। विचार में कल्पना होती है। मति विपर्यास को धारण करती है। इसलिए ज्ञानियों ने सत्संग को बहुत महत्व दिया है। इतना ही नहीं जितना सत्संग को महत्व दिया है इतने ही ज़ोर से कुसंग का निषेध किया है। सत्शास्त्रों में असत्संग और कुसंग का ज़ोर से निषेध किया है कि सर्प के काटने से एक बार आदमी मरता है, (परंतु) असत्संग से अनंत जन्म-मरण बढ़ जाते हैं। अग्नि में जलाने से या पानी में डूबने से एक बार मृत्यु होती है, परंतु असत्संग से कितना नुकसान होता है यह कहना मुश्किल है। ऐसे-ऐसे दृष्टांत लिए हैं। ज्ञानीपुरुषों ने जितनी सत्संग की महिमा (की) है उतना ही असत्संग और कुसंग का निषेध किया है। क्योंकि जीव को संग का असर तुरंत ही होता है। संग से दोष भी तुरंत उत्पन्न हो जाता है और संग से गुण भी तुरंत ही होता है। क्योंकि संसार में जीव की योग्यता निमित्ताधीन परिणमन करने की रही है। अतः असत्संग के विषय में भी विशेष दरकारपूर्वक प्रवृत्ति होनी चाहिए।

मुमुक्षु :- सारा दिन असत्संग में ही रहना होता है।

पूज्य भाईश्री :- अभी वर्तमान काल में संयोगों की परिस्थिति देखते हैं तो मनुष्य असत्संग से ही घिरा हुआ है या असत्संग ने उसे घेर रखा है, ऐसा कहना होगा। क्योंकि अभी सत्संग अत्यंत दुर्लभ है। ज्ञानीपुरुषों तो नहीं रहे किन्तु मोक्षार्थी जीवों का भी दुष्काल वर्तता है, आत्मारथी जीवों का भी दुष्काल है। ऐसी जब परिस्थिति है इसमें कदम-कदम पर पाप लगे ऐसी काल की परिस्थिति है। अतः विशेष गंभीरतापूर्वक - जिसका भी संग करे विशेष गंभीरता पूर्वक करना चाहिए। जैसे यह जीव मोक्षार्थी है या नहीं ? वह मोक्ष की - कल्याण की भावनावाला है कि नहीं ? इतना तो कम

से कम देख ही लेना चाहिए। वरना संगदोष का असर और उसका फल आये बिना नहीं रहेगा। एक अजगर को दो सौ फुट दूर से देखे तो भी भागने लगे। बड़ा बीस-पच्चीस फुट लंबा - मोटा अजगर हो उसे दो सौ - पाँच सौ फुट दूर से देखेगा तो भी भय लगता है। क्योंकि पता है कि आने में देर नहीं लगेगी। परंतु असत्संग का भय नहीं है जो कि अजगर से भी खतरनाक है !! इतना भय लगना चाहिए। जीव असत्संग से इतना भयभीत होना चाहिए। वहाँ जैसे भय लगता है वैसे यहाँ मिथ्यात्व का इतना ही भय लगना चाहिए। असत्संग से मिथ्यात्व दृढ़ हो जाएगा।

अतः (यहाँ कहते हैं) **‘जिन कारणों में उदासीन हुए बिना...’** यानी कि नीरस हुए बिना। (ऐसे प्रसंग) आ जाये यह संभव है। अनेक प्रकार के संग-प्रसंग बनेंगे ही। समाज के बीच रहते हैं इसलिए असत्संग तो काफ़ी है ही। परंतु खुद भीतर से रस लेना छोड़ दे। रस आ जाये तो इसमें बहुत मुसीबत है। (इसलिए कहा कि) **‘जिन कारणों में उदासीन हुए बिना, निःसत्त्व ऐसी लोकसंबंधी जपतपादि क्रिया में साक्षात् मोक्ष नहीं है, परंपरा मोक्ष नहीं है,...’** यह जो ‘लोकसंबंधी’ जप-तपादि क्रिया कही, धर्म संबंधी क्रिया नहीं कही, देखा ! जैसे क्या कहेगा कि इतने उपवास करूँगा तो इसके उत्सव में इतना-इतना होगा ! संप्रदाय में यह तो प्रसिद्ध है कि नहीं ? तपश्चर्या इत्यादि तप ही करने में आते हैं न ? अखबार में इश्तहार से लेकर फोटो छपवाना, रथयात्रा और भी जितनी लोकदृष्टिपूर्वक यानी लोगों में प्रसिद्धि होने के लिए, लोगों में लोक प्रतिष्ठा (प्राप्त) हो इस हेतु से जितनी भी जप-तपादि क्रियाएँ हैं वे धर्म संबंधी नहीं हैं अपितु लोकसंबंधी हैं। कृपालुदेव ने शब्द कैसा इस्तेमाल किया है। ‘लोकसंबंधी’ वे सारी क्रियाएँ हैं। और

कैसी हैं ? इसमें कोई दम नहीं है, निःसत्त्व (है माने) इसमें कोई दम नहीं है, ऐसा कहते हैं। परिणाम में कोई ठिकाना नहीं होता। भाव से बंध, परिणाम से ही बंध और परिणाम से ही मोक्ष है। परिणाम पर ध्यान नहीं रहता कि कैसे परिणाम होते हैं ? सिर्फ बाह्य क्रिया का पालन करने में आता है, इसकी सावधानी रखी जाती है। इसमें कोई दम नहीं है। वे क्रियाएँ निःसत्त्व हैं। उनमें कोई सत्त्व है ही नहीं। ऐसी क्रिया में साक्षात् मोक्ष तो नहीं है अपितु परंपरा, भविष्य में मोक्ष होगा इस बात में भी कोई दम नहीं है।

‘ऐसा माने बिना...’ क्या (कहते हैं) ? ‘ऐसा माने बिना...’ अब आगे लेते हैं ‘...जीव को जीव के स्वरूप का निश्चय होना बहुत दुष्कर है, अत्यंत दुष्कर है।’ इस पोस्टकार्ड में कृपालुदेव ने (मुमुक्षुजीव को) अपने स्वरूप का निश्चय होने में कौन-कौन से प्रतिबंधक कारण हैं, इसकी खास चर्चा की है। उन कारणों की जाँच करके, अपने में मौजूद हो तो उन्हें दूर करना चाहिए। इसके अलावा ‘निःसत्त्व ऐसे असत्शास्त्र...’ कौन-सा शास्त्र पढ़ना इसका भी विवेक होना चाहिए। किसी भी पुस्तक का नाम अच्छा रख दिया हो तो इसका मतलब वह शास्त्र नहीं हो जाता। खुद को शास्त्र के विषय संबंधित परख करने की शक्ति होनी चाहिए कि, यह पढ़ने लायक है या नहीं ? कितनी जिम्मेदारी है ? इसमें बहुत जिम्मेदारी है। निःसत्त्व ऐसे असत्शास्त्र, (ऐसा कहा)। मतलब सत्शास्त्र ही पढ़ना चाहिए, असत्शास्त्र नहीं पढ़ना चाहिए। यानी कि जिसको सम्यग्ज्ञान है ऐसे ज्ञानीपुरुषों के वचन ही सत्शास्त्र हैं। अज्ञानीपुरुष द्वारा लिखित पुस्तकें सत्शास्त्र नहीं हैं। उसको खुद को ही आत्मज्ञान नहीं है। सत्स्वरूप का जिसको ज्ञान नहीं है उसकी वाणी भी सत् नहीं

है। वहाँ सत् नहीं कुछ न कुछ मत है और (जहाँ) मत है वहाँ सत् नहीं। आता है न ? उनका (अज्ञानियों का) एक मत हो तो भी वह कोई सत् नहीं है। सत् तो भीतर से जिसको सत् (स्वरूप) प्रगट हुआ हो उसकी वाणी में आता है। और वह वाणी सत्शास्त्र है - आगम है। सत्पुरुष के एक शब्द में अनंत आगम रहे हैं वह बात कृपालुदेव ने कही है। एक शब्द में अनंत आगम रहे हैं। ऐसा क्यों ? (क्योंकि) जीवंत आगम ऐसा आत्मा, इसके अनुभवमें से निकले हुए ये वचन हैं। सर्व आगम आत्मामें से ही निकले हैं। आत्मा के अनुभवमें से ही प्रगट हुए हैं।

इसलिए (कहते हैं कि) **'निःसत्त्व ऐसे असत्शास्त्र और असद्गुरु...'** कि जिसको आत्मज्ञान नहीं है। गुरु के वेश में है, इसलिए उसमें गुरु की कल्पना या निश्चय कर लेना उचित नहीं है।

'आत्मज्ञान त्यां मुनिपणुं, ते साचा गुरु जोय,
बाकी कुलगुरु कल्पना, आत्मार्थी नहीं जोय।।'

वह गुरु तो क्या ? आत्मार्थी भी नहीं है। क्यों आत्मार्थी भी नहीं है ? क्योंकि खुद को ज्ञान नहीं होने पर भी, आत्मज्ञान का अभाव होने पर भी, खुद गुरुपद में रहकर उपदेश देता है। वह (तो) आत्मार्थी भी नहीं है। गुरु तो नहीं है लेकिन आत्मार्थी भी नहीं है। चाहे वह कोई भी वेश में हो, चाहे कोई भी लिबास में हो लेकिन वह आत्मार्थी भी नहीं है। गुरु होने का तो सवाल ही नहीं उठता। आत्मज्ञान हो वहाँ मुनिपना है। भले ही वेश गृहस्थी का हो, (अगर आत्मज्ञानी हैं तो वे गुरु हैं।) ऐसा कहना है। **'आत्मज्ञान त्यां मुनिपणुं, ते साचां गुरु जोय'** उन्हें गुरु स्वीकार करना। आत्मज्ञान है कि नहीं, यह पहले नक्की करना पड़ेगा। (इसलिए जिसको आत्मज्ञान नहीं है) वह भी निःसत्त्व है।

(यहाँ कहते हैं) निःसत्त्व ऐसे असत्शास्त्र और निःसत्त्व ऐसे असद्गुरु - वैसे (असद्गुरु) भी निःसत्त्व हैं। **'जो आत्मस्वरूप के आवरण के मुख्य कारण हैं।'** आत्मज्ञान के अभाव में लिखे गये ग्रंथों को शास्त्र के रूप में स्वीकार करना यह आत्मस्वरूप को आवरण का मुख्य कारण है। आत्मज्ञान का अभाव हो, ऐसे जीव को गुरु के रूप में स्वीकार करना यह भी आत्मस्वरूप को आवरण का मुख्य कारण है। मुख्य कारण है इतना ही नहीं, कृपालुदेव ने यहाँ तो बहुत कठोर व सख्त भाषा में बात की है। **'उन्हें साक्षात् आत्मघाती जाने बिना...'** कैसा जानना ? आत्मा का खून करनेवाले हैं, ऐसा कहते हैं। **'आत्मघाती'** - घात करना माने खून करना। कितनी जबरदस्त बात की है !! किसी व्यक्ति के प्रति द्वेष नहीं है। यहाँ तो सत्य क्या है ? और असत्य क्या है ? यह बात की है। कोई व्यक्तिगत बात नहीं की है। परंतु सत्य का निरूपण करते वक्त यह संभव है कि असत्यवादियों को वह प्रिय न लगे, और अप्रिय लगे। द्वेष भी होना संभव है। यह ऐसा है कि दारु पीना ठीक नहीं है, ऐसा कहने से दारु की दुकानवाले या कारखानावाले को दुःख लगे तो इसका तो कोई दूसरा उपाय नहीं है। यह संभव है कि उसको वह अच्छा नहीं लगे, क्योंकि इसमें उसकी कमाई है। इसलिए उसे अच्छा तो नहीं लगेगा, परंतु उसको अच्छा लगाने के लिए दारु पीनेवाले की प्रशंसा तो नहीं कर सकते। इसतरह जहाँ सत्य का प्रतिपादन किया जाता है वहाँ असत्य का निषेध आये बिना नहीं रहता। महान आचार्यों ने जो ग्रंथ लिखे हैं उनमें भी यही परिस्थिति हुई है। सत् की स्थापना के विकल्प में असत् की उत्थापना आये बिना रहती नहीं। इसलिए यहाँ असत्य का उत्थापन किया है।

निःसत्त्व ऐसे असत्शास्त्र और निःसत्त्व ऐसे असद्गुरु, ये आत्मस्वरूप को आवरण के मुख्य निमित्त हैं। (क्योंकि) खुद ने स्वीकार किया है इसलिए खुद को आवरण करेंगे ही और वे आत्मघाती हैं ऐसा समझने योग्य है। अतः तत्संबंधित बहुत गंभीरता होनी चाहिए। **‘उन्हें साक्षात् आत्मघाती जाने बिना जीव को जीव के स्वरूप का...’** यानी अपने स्वरूप का **‘निश्चय होना बहुत दुष्कर है।’** वह तो बहुत दूर चला जाएगा, ऐसा कहते हैं। असत्शास्त्रों का सत्शास्त्र के रूप में स्वीकार करे, असद्गुरु को सद्गुरु के रूप में स्वीकार करे तो आत्मस्वरूप की पहचान होने में वह बहुत दूर चला जाएगा। अत्यंत दुष्कर है इसलिए बहुत दूर चला जायेगा। नज़दीक आने के बजाय दूर चला जाएगा। **‘...बहुत दुष्कर है, अत्यंत दुष्कर है।’** ऐसा कहते हैं। क्योंकि, वह फिर उन्मार्ग पर चढ़ जाता है।

‘ज्ञानीपुरुष के प्रगट आत्मस्वरूप को कहनेवाले वचन भी उन कारणों के कारण जीव को स्वरूप का विचार करने के लिए बलवान नहीं होते।’ देखो ! कैसी मुसीबत खड़ी हुई ! जो ज्ञानीपुरुष हैं, अनुभवी पुरुष हैं, उनके वचन कैसे हैं ? कि **‘प्रगट आत्मस्वरूप को कहने वाले...’** वचन हैं। क्या ? आत्मस्वरूप को कहनेवाले वचन हैं, ऐसा नहीं कहा - **‘प्रगट आत्मस्वरूप को...’** कहनेवाले वचन हैं। आत्मा प्रत्यक्ष है, अत्यंत प्रत्यक्ष है क्योंकि स्वसंवेदन अनुभव में आता है। कृपालुदेव ने पत्रांक - ७१० में यह बात ली है। ऐसे आत्मस्वरूप को प्रत्यक्ष करनेवाले जो वचन हैं, प्रत्यक्ष स्वरूप को प्रत्यक्ष करनेवाले जो वचन हैं, जीव की यदि पात्रता हो तो उसका असर आये बिना रहता नहीं। ऐसे वचन भी उक्त कारणों की वज़ह से जीव को जीव के स्वरूप का विचार करने में बलवान

नहीं होते हैं। (इसका मतबल है कि) ये वचन बलवान होने के बावजूद भी उसके लिए बलवान नहीं रहते, निष्फल जाते हैं। क्योंकि, जीव की अयोग्यता बलवान हो गई। सत्पुरुष के वचन से भी जीव की अयोग्यता वहाँ बलवान हो गई, जिसके कारण ऐसे वचन भी जीव को असर नहीं करते हैं।

इसका सीधा सादा अर्थ ऐसा हुआ कि, जब अज्ञान और मिथ्यात्व, यानी कि दर्शनमोह तीव्र होता है तब उपदेशरूपी लकड़ी की मार नहीं लगती है। पीछे लिया है कि जो रज़ाई ओढ़कर सोया हो उसे श्रीगुरु की उपदेशरूपी लकड़ी का असर नहीं होता। यह रज़ाई कौन-सी है ? कि उन्मार्ग में चढ़कर मिथ्यात्व को दृढ़ किया है, (और जो) गृहीत मिथ्यात्व में आया है, उसको आत्मस्वरूप के कहनेवाले वचन भी असर नहीं करेंगे। जो धोती जैसा पतला वस्त्र ओढ़कर सोया है, यानी कि जिसका मिथ्यात्व कमज़ोर हुआ है, उसको श्रीगुरु की लकड़ी का प्रहार असर करता है। उपदेश की लकड़ी का असर उसको होता है। मुमुक्षु की भूमिका में कहाँ-कहाँ मिथ्यात्व दृढ़ होता है ? कहाँ-कहाँ मिथ्यात्व गलता है ? इन दोनों पहलू का यथार्थ विचार होना चाहिए। यदि उसका यथार्थ विचार न हुआ तो ओघसंज्ञा में ही सब चलता रहेगा और उपदेश की लकड़ी कभी नहीं लगेगी। ऐसी परिस्थिति होगी।

इसप्रकार इस पोस्टकार्ड में मुमुक्षु के लिए बहुत महत्व का विषय निरूपित हुआ है। अतः लोकसंज्ञा, ओघसंज्ञा और असत्संग का त्याग करना चाहिए। इसके अलावा असत्शास्त्र और असद्गुरु को भी छोड़ना चाहिए। क्योंकि, जीव का निश्चय होने में, अपने स्वरूप की पहचान होने में ये बड़े प्रतिबंधक कारण हैं। बीजज्ञान प्रगट नहीं होगा। (आत्मस्वरूप की) पहचान होना वह बीजज्ञान है।

फिर आत्मज्ञान प्रगट होने का तो सवाल नहीं रहता।

‘अब ऐसा निश्चय करना योग्य है कि जिसे आत्मस्वरूप प्राप्त है,...’ अर्थात् जिसको आत्मस्वरूप ‘प्रगट है, उस पुरुष के बिना अन्य कोई उस आत्मस्वरूप को यथार्थ कहने के योग्य नहीं है;...’ या दिखाने के योग्य नहीं है। जिसको आत्मस्वरूप प्राप्त नहीं हुआ है, प्राप्त होना माने ? सबके अंदर में आत्मस्वरूप तो है (परंतु) अनुभव में इसकी प्राप्ति मानी जाती है। कब प्राप्ति गिनते हैं ? कि स्वानुभव हो, तब उसमें आत्मस्वरूप की प्राप्ति मानी जाती है। वरना प्राप्त होने के बावजूद भी अप्राप्त समान है। अनुभव होता है तब प्राप्त की प्राप्ति गिनी है। किसकी प्राप्ति गिनी है ? जो प्राप्त है उसकी प्राप्ति गिनी है। अतः यहाँ ऐसा निर्णय करना चाहिए कि, ‘जिसे आत्मस्वरूप प्राप्त है,...’ यानी कि जो आत्मानुभवी पुरुष हैं। ‘...प्रगट है...’ मतलब उसकी अवस्था में स्वरूप प्रगट हुआ है, स्वरूपाकार दशा प्रगट हुई है, जिसे आत्माकार दशा वर्तती है, ‘उस पुरुष के बिना अन्य...’ अर्थात् उससे अनभिज्ञ। अन्य माने ? कि, इसप्रकार आत्मस्वरूप से जो अनजाना है। (जो) स्वयं ही अनजाना है, ‘...आत्मस्वरूप को यथार्थ कहने के योग्य नहीं है;...’ (अर्थात्) वह नहीं कह सकता । आत्मस्वरूप के विषय में वह जीव अंधेरे में खड़ा है। वास्तव में आत्मा कैसा है ? यह उसको पता नहीं। क्योंकि, उसका अनुभवगम्य जो ज्ञान होना चाहिए, उस ज्ञान का वहाँ उसे अभाव वर्तता है। यानी कि अज्ञानदशा में इस विषय में वह बिलकुल अंधेरे में ही रहता है। वह आत्मस्वरूप को यथार्थ कहने के योग्य नहीं है।

(अब कहते हैं) ‘और उस पुरुष से आत्मा जाने बिना अन्य कोई कल्याण का उपाय नहीं है।’ अपने आप शास्त्र पढ़े तो भी

आत्मकल्याण नहीं होता। और जिसे आत्मज्ञान नहीं है उससे आत्मा की वार्ता सुने तो भी आत्मज्ञान नहीं होता। इतना ही नहीं, सत्पुरुष - ज्ञानीपुरुष से आत्मा जानने के सिवा अन्य कोई उपाय नहीं है। फिर भी, 'उस पुरुष से आत्मा जाने बिना, आत्मा जाना है, ऐसी कल्पना का मुमुक्षु जीव को सर्वथा त्याग करना योग्य है।' बहुत सुंदर मार्गदर्शन दिया है ! आत्मज्ञान जिसको करना है अर्थात् आत्मज्ञान करके जिसको भव-भ्रमण से मुक्त होना है, उसके लिए अन्य कोई उपाय नहीं है। आत्मज्ञानी पुरुष से ही आत्मज्ञान की प्राप्ति होगी, इसके अलावा आत्मज्ञान होने का तीन काल, तीन लोक में कोई उपाय नहीं है।

यह बात कृपालुदेव ने स्वानुभव से की है। जातिस्मरण ज्ञान होने से अपने पूर्वभवों के अनुभव का निचोड़ इसमें भर दिया है। आत्मस्वरूप प्रगट है, प्राप्त है, ऐसे पुरुष से आत्मज्ञान प्रगट होने के पहले, भूतकाल में (यानी पूर्व भव में) उन्होंने आत्मस्वरूप को प्राप्त करने के लिए बहुत-बहुत, अनेक प्रकार से, अनेक विध प्रकार से परिश्रम किया है। और इस जीव को भी याद नहीं है वरना इस जीव ने भी बहुत परिश्रम किया ही है। उलटे लटककर तपश्चर्या की है। आप लोगों ने नहीं देखा होगा परंतु अन्य मत में (ऐसा करते हैं कि) गर्मी के दिनों में (चारों तरफ) आग जलाते हैं इसके बीच खड़े रहे या शिर्षसन करते हैं। ऐसा-ऐसा चाहे कुछ भी करे, शरीर को क्षीण कर दे या - टूट मरे परंतु आत्मस्वरूप प्रगट है ऐसे पुरुष द्वारा आत्मा को जाने बिना अन्य कोई तिरने का उपाय नहीं है। धर्म के मार्ग में और मुमुक्षु की भूमिका में इस परम सत्य का स्वीकार किये बिना छुटकारा नहीं है।

कुछ एक स्वच्छंद परिणामी जीव ऐसा विचार करते हैं कि

यह तो निमित्ताधीन दृष्टि की बात है। परंतु वैसे भी चौबीसों घंटें (सब का) निमित्ताधीन परिणमन चलता है। किसीका भी परिणमन एक सेकंड के लिए दिखा दो कि वह निमित्ताधीन न चलता हो !! एक सेकंड दिखा दीजिए !! अब यहाँ आत्मकल्याण का मार्ग व आत्मस्वरूप को बतलानेवाले सत्पुरुष - ज्ञानीपुरुष जैसे निमित्त जब मिलते हैं तो उसे स्वच्छंद से निमित्ताधीनपना समझकर दूर करना - यह वास्तव में बहुत बड़े कमभाग्य की निशानी है !! वरना (जिसको आत्महित करना है वह तो) तड़प-तड़पट कर सत्पुरुष की खोज करेगा। कैसे खोज करेगा ? आगे १९५ पत्र में आ गया है। 'उसके लिए दृढ़ होकर तरसे बिना मार्ग की दिशा का भी अल्प भान नहीं होता,...' यह परम सत्य समझ में आना चाहिए कि, सत्पुरुष चाहिए, चाहिए और चाहिए। इसके बिना पढ़कर, सुनकर, विचारकर '...आत्मा जाना है, ऐसी कल्पना का मुमुक्षुजीव को सर्वथा त्याग करना योग्य है।' अर्थात् बिलकुल भी उस कल्पना में चढ़ने जैसा नहीं है कि, मुझे ज्ञान हुआ है या मुझे समझ हुई है।

अतः 'उस आत्मारूप पुरुष के सत्संग की....' कैसे पुरुष कहे ज्ञानी को ? वे आत्मारूप पुरुष हैं। वे मनुष्यरूप नहीं हैं। ठीक ! आत्मारूप हैं। 'उस आत्मारूप पुरुष के सत्संग की निरंतर कामना रखकर उदासीनता से लोकधर्मसंबंधी और कर्मसंबंधी (क्रिया) परिणाम से छूटा जा सके इस प्रकार से व्यवहार करना।' व्यवहार में खड़ा है तब तक व्यवहार किये बिना तो चलेगा नहीं परंतु छूटने के लिए करना, बँधने के लिए नहीं। अब सवाल यह है कि, छूटने के लिए कब हो ? कि, आत्मारूप पुरुष के सत्संग की निरंतर कामना रखी हो तो, वरना सच्ची उदासीनता नहीं आयेगी। (खुद को) आत्मस्वरूप प्रगट नहीं है इसलिए सच्ची उदासीनता नहीं आयी।

पूर्णता का लक्ष्य नहीं है इसलिए सच्ची उदासीनता नहीं आयी। परंतु सत्पुरुष की कामना, निरंतर सत्संग की कामना हो तब जो उदासीनता आती है वह यथार्थ है। और ऐसी कामनापूर्वक अगर उदासीनता आये फिर जो व्यवहार के कार्य करने में आते हैं, उसमें छूटने का अवसर है। वरना इससे छूटने का अवसर नहीं है। 'इस प्रकार से व्यवहार करना। जिस व्यवहार के करने में जीव को अपनी महत्तादि की इच्छा हो वह व्यवहार करना यथायोग्य नहीं है।' इस विषय में थोड़ी विशेष बात फिर से लेंगे। समय हुआ है, यहाँ तक रखते हैं।



'अवलोकन' बिना वेदन सम्बन्धित विषय सहीरूपमें समझमें नहीं आता है। नास्तिरूप भावोंमें आकुलता है, विकल्पमात्र दुःखरूप है इत्यादि आगम, न्याय, युक्ति, अनुमानसे समझमें आनेके बावजूद भी इच्छित पदार्थकी प्राप्तिके वक्त, इच्छाकी पूर्तिके कारण कषायकी अल्प मंदता, कल्पनामात्र रम्य लगती है। जिसके कारण भोग-उपभोगके भाव - अशुभ भाव जो कि वास्तवमें तीव्र कषायरूप होनेसे तीव्र आकुलता सहित है फिर भी 'अवलोकन'के अभावके कारण उस वक्त दुःख नहीं लगता - नहीं समझमें आता है बल्कि सुखकी भ्रान्ति चालू रह जाती है; अगर 'अवलोकन' होगा तो ही दुःख भासित होगा और दुःख मिटनेका अवसर आयेगा, दूसरा कोई उपाय नहीं है।

(पूज्य भाईश्री - अनुभव संजीवनी-४९९)

प्रवचन - ९ दि. ३१-७-१९९४ - पत्रांक-४४९ (५)

(श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत) पत्रांक - ४४९ चलता है। पन्ना - ३७९ पर चौथा पैराग्राफ है। फिर से थोड़ा स्वाध्याय में ले लेते हैं। ऊपर जो कुछ मार्गदर्शन मुमुक्षुओं को दिया है, अब इस पैराग्राफ में इसका उपसंहार करते हैं।

‘अब ऐसा निश्चय करना योग्य है कि,...’ इतनी बात पर विचार करने के पश्चात् अब इस निर्णय पर आना चाहिए कि, **‘जिसे आत्मस्वरूप प्राप्त है, प्रगट है, उस पुरुष के बिना अन्य कोई उस आत्मस्वरूप को यथार्थ कहने के योग्य नहीं है;...’** क्या कहा ? आत्मस्वरूप को कहनेवाला व्यक्ति (अर्थात्) आत्मस्वरूप का जिसको अनुभव हुआ है, अनुभव में जिसको इसकी प्राप्ति हुई है, वर्तमान दशा में - ज्ञान में - अनुभव में जिसको प्रगट और प्रत्यक्ष आत्मा वर्तता है। **‘...उस पुरुष के बिना अन्य कोई आत्मस्वरूप को यथार्थ कहने के योग्य नहीं है;...’** आत्मस्वरूप (अर्थात्) आत्मा का मूल स्वरूप - असल स्वरूप है वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म आत्मस्वभाव है - त्रिकाली स्वभाव है - शाश्वत स्वभाव है और उसका अनुभव नहीं हो तब तक उस विषय में ज्ञान बिलकुल अनजान रहता है। जब तक आत्मस्वरूप का प्रत्यक्ष अनुभव न हो, सहज अनंत प्रत्यक्ष ऐसा जो आत्मस्वरूप, इसके अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष अनुभव बिना, उस विषय में जीव का अनादि से अनभिज्ञपना रहा है। उस विषय में जीव अंधेरे

में खड़ा है। खुद के ही स्वरूप के विषय में खुद अंधेरे में है। अतः उसे कहने, दिखाने के लिए तथारूप अनुभूति संपन्न महात्मा ही उसे कह सकते हैं, वही पुरुष उसे कह सकता है, वही पुरुष उसे दिखा सकता है। दूसरा कोई उसे नहीं दिखा सकता, ऐसा निश्चय करना।

ऐसा निश्चय क्यों करना ? क्योंकि, चाहे किसी भी पुरुष से आत्मा श्रवण करने योग्य नहीं है, विचार करने योग्य नहीं है। क्योंकि वह कल्पनायुक्त वाणी द्वारा कहेगा। तो वहाँ उसकी (आत्मस्वरूप की) कल्पना होने का अवसर - प्रसंग आने की पूरी संभावना है। अतः ऐसा निश्चय करना चाहिए कि, जिसको आत्मस्वरूप प्राप्त है, प्रगट है, प्रत्यक्ष है, **'...उस पुरुष के बिना अन्य कोई उस आत्मस्वरूप को यथार्थ कहने के योग्य नहीं है;...'** दर्शाने के लिए योग्य नहीं है। **'...और उस पुरुष से...'** ऐसे पुरुष से - अनुभवी पुरुष से **'आत्मा जाने बिना अन्य कोई कल्याण का उपाय नहीं है।'** यह एक ही उपाय है।

जिसे जन्म-मरण से मुक्त होना हो - भवभ्रमण से मुक्त होना हो, उसे आत्मज्ञानी पुरुष से ही आत्मा जानना चाहिए। इसके अलावा परिभ्रमण से छूटने का अन्य कोई उपाय नहीं है यानी कि इसका दूसरा कोई Alternative नहीं है, कि इसके बदले में कुछ चल जाये। भले ही आत्मज्ञानी पुरुष विद्यमान न हो तो उनके लिखे गये शास्त्र तो हमारे पास हैं इसलिए उन्हें पढ़कर आत्मज्ञान प्राप्त कर लेंगे अथवा तो उस आत्मज्ञानी पुरुष से श्रवण प्राप्त कोई दूसरा जीव भले ही आत्मज्ञानी न हो, कोई विद्वान हो - पंडित हो जिन्होंने आत्मज्ञानी पुरुषों को सुना हो अतः उनसे आत्मा सुनकर आत्मा प्राप्त हो जाएगा ऐसा कोई (समझे तो) यह भी संभवित नहीं है।

दूसरा कोई एवज नहीं है कि इसके बदले में कुछ चल जाये।

मुमुक्षु :- कृपालुदेव ने 'अंतिम संदेश' में कहा 'जिन प्रवचन दुर्गम्यता, थाके अति मतिमान, अवलंबन श्री सद्गुरु...'

पूज्य भाईश्री :- '...सुगम अने सुखखाण !' इसमें तो अन्य कोई उपाय ही नहीं है। यह बात जो (कही) है वह टंकोत्कीर्ण है। इसका दूसरा कोई उपाय नहीं है। जगत में भी यह बात सबको अनुभवगम्य है कि, अभी Communication के - परोक्ष Communication के अच्छे से अच्छे साधन उपलब्ध हैं। अभी परदे पर Meeting की जाती है। एक आदमी अमरीका में बैठा हो, दूसरा रशिया में बैठा हो, तीसरा लंडन में बैठा हो या कोई भारत में बैठा हो, फिर भी परदे पर Meeting कर सकते हैं। बातचीत की जा सकती है। विचारों का आदान-प्रदान कर सकते हैं। फिर भी Personal Meeting करने का क्या कारण है ? प्रत्यक्ष मिलने के पीछे क्या कारण है ? ऐसे जो संपन्न लोग होते हैं जो ऐसी Meeting कर सकते हैं उन्हें घर से बाहर निकलने में कोई कम खतरा नहीं है, (क्योंकि) अभी आतंकवाद का जमाना है। कब कौन पिस्तोल चला देगा, कह नहीं सकते। बीच बाज़ार में केनेडी को मार डाला था। अमरीका में उसके लिए कोई कम सुरक्षा का बंदोबस्त होगा क्या ? उसकी Security भारत से कम होगी क्या ? ऐसे लोगों को भी घर से बाहर निकलकर व्यक्तिगतरूप से Meeting क्यों करनी पड़ती है ? क्योंकि प्रत्यक्ष की एवजी कोई है ही नहीं। कोई भी परोक्ष साधन प्रत्यक्ष की पूर्ति नहीं कर सकता। यह तो सबको अनुभवगोचर है इसलिए तो तथारूप सबकी प्रवृत्ति है कि नहीं ? कार्य करते हैं कि नहीं ? जब कि ये तो सारे स्थूल विषय हैं। ये राज-काज और राजकरण चलाना, यह तो स्थूल

बुद्धि का विषय है। आत्मज्ञान प्राप्त करना यह अति सूक्ष्मातिसूक्ष्म बुद्धि का विषय है। यहाँ (ज्ञान का) उघाड कम हो इसकी इतनी दिक्कत नहीं है परंतु अपने प्रयोजन की बुद्धि सूक्ष्म होनी चाहिए। एकमात्र इसकी पकड़ रहे और अप्रयोजनभूत की पूरी पकड़ छूट जाये, ऐसी (ज्ञान में) सूक्ष्मता और तीक्ष्णता आने पर ही आत्मज्ञान होता है और वह भी आत्मज्ञानी पुरुष के व्यक्तिगत प्रत्यक्ष परिचय से ही होता है। ऐसे ही नहीं होता। ऐसा निश्चय करना चाहिए। यह आज्ञा है।

निश्चय करना चाहिए मतलब ? जिस मुमुक्षु को पत्र लिखा है, उस मुमुक्षु की जगह अपने आप को अवधारण करना है कि जैसे कृपालुदेव यह मुझे कह रहे हैं, मुझे आज्ञा करते हैं। १०१ साल पहले लिखा गया यह पत्र मुझ पर लिखा है, ऐसा स्पष्टरूप से हमें लगना चाहिए।

(अब कहते हैं कि) '....उस पुरुष से आत्मा जाने बिना अन्य कोई कल्याण का उपाय नहीं है। उस पुरुष से आत्मा जाने बिना...' (ऐसा) प्रसंग प्राप्त हुए बिना, '...आत्मा जाना है, ऐसी कल्पना का मुमुक्षु जीव को सर्वथा त्याग करना योग्य है।' (ऐसा मानता है कि) मुझे पता है आत्मा सच्चिदानंदस्वरूप है तो फिर भी वह कल्पना है। वह कल्पना छोड़ने योग्य है। ऊपर-ऊपर से अपना विचार, अपनी मान्यता, और श्रद्धा शास्त्रवचन से मेल खाती है इसलिए मुझे आत्मा का ज्ञान है, ऐसा बिलकुल नहीं समझना चाहिए। ऐसी कल्पना का त्याग करने योग्य है।

'उस आत्मारूप पुरुष के सत्संग की निरंतर कामना रखकर...' कैसे हैं आत्मज्ञानी पुरुष ? वे आत्मारूप हैं। अब वे मनुष्यरूप नहीं रहे, अब वे आत्मारूप हैं। आत्मारूप हैं, इतना तो नहीं परंतु आत्मा

स्वयं परमात्मारूप है। इसलिए वे सत्पुरुष भी परमात्मरूप हैं ! ऐसी बुद्धिपूर्वक (यानी कि) परमेश्वरबुद्धि से उनके **'...सत्संग की निरंतर कामना रखकर उदासीनता से लोकधर्मसंबंधी और कर्मसंबंधी...'** व्यवहार करना।

उदासीनता से (मतलब) नीरसता से (अर्थात्) असार है, निरर्थक है, वृथा परिश्रम है। परंतु (ऐसा व्यवहार किये बिना) छुटकारा नहीं है, अपने परिणाम बिगड़ नहीं जाये इसके खातिर भी सावधानी रखकर - जबरन (करना पड़े)। जैसे किसी कैदी से जेलर काम लेता है, वैसे पूर्वकर्म का उदय कैदी बनाकर आत्मा से काम ले रहा हो वैसे (व्यवहार करना)। जिसके बदले में कुछ नहीं मिलता। कैदी को तो फिर भी कुछ मिलता होगा - हम तो नहीं जानते, लेकिन इधर तो बदले में कुछ नहीं मिलता - सिवा केवल नुकसान !!

(इसलिए यहाँ कहा कि) उदासीनभाव से - **'उदासीनता से लोकधर्मसंबंधी...'** अर्थात् जगत के कार्य। जिसे व्यावहारिक कार्य - लोकधर्म कहा जाता है। गृहस्थीधर्म, समाजधर्म, जिसके साथ जो भी संबंध हो, वे सारे लौकिकधर्मसंबंधी (कार्य)। धर्म मतलब यहाँ फ़र्ज - लौकिक फ़र्ज संबंधी। धर्म अर्थात् यहाँ वीतराग धर्म नहीं। लौकिकधर्मसंबंधी - लोक फ़र्ज संबंधी **'...और कर्मसंबंधी...'** यानी कि अपने प्रारब्ध उदय संबंधी **'...व्यवहार करना'** वह कैसे ? **'...परिणाम से छूटा जा सके इस प्रकार से...'** परिणाम से मतलब जिसके फलस्वरूप छूटा जा सके वैसे (करना)। उस परिणाम से कब छूटा जा सकेगा ? कि, जब इससे छूटने के लक्ष्य से उदासीनता आयी होगी तब। उस प्रवृत्ति का बोझा आ पड़ा हो इसलिए करनी पड़े, या कोई उपाय नहीं हो इसलिए करनी पड़े (यह बात अलग है), परंतु (मैं) इससे छूटना चाहता हूँ। ऐसी चाहत होगी तो वह परिणामतः

छूट जाएगा। वरना उस परिणाम में रस आयेगा और इस परिणाम से अधिक नुकसानकारक कर्म बंधेंगे, यह परिस्थिति खड़ी होगी।

इस प्रकार व्यवहार करना (तथा) **'...जिस व्यवहार के करने में जीव को अपनी महत्तादि की इच्छा हो वह व्यवहार करना यथायोग्य नहीं है।'** ऐसा व्यवहार करते-करते भी खुद की महत्ता - ठीक तरह अपनी महत्ता बनी रहे, अपनी महत्ता बढ़े, अपनी शोभा बढ़े - उस प्रकार के अभिप्राय सहित तो व्यवहार (करना ही नहीं)। लोकधर्मसंबंधी भी ऐसा व्यवहार नहीं करना। (देखिये !) ये तो एक पारलौकिक ज्ञान के दातार हैं इसलिए लौकिक बात में भी बचाते हैं।

सभी गृहस्थों के यहाँ शादी के प्रसंग आते हैं। तब अभिप्राय ऐसा रहता है कि अपने यहाँ सब अच्छे से अच्छा होना चाहिए। क्यों ? (क्योंकि) सभी सगे-संबंधी और गाँववाले जानेंगे कि अभी इनके यहाँ शादी का प्रसंग आया है। तो हमारी महत्ता बढ़े, बनी रहे, वैसे सब अच्छे से अच्छा होना चाहिए। यह लोक फ़र्ज संबंधी व्यवहार जीव कैसे करता है (इसका दृष्टांत है)। उस वक्त जीव इतने रस में चढ़ जाता है कि जिससे कितना कर्मबंध कर लेता है इसका पता तक नहीं चलता। यहाँ (इस मार्गदर्शन द्वारा) वहाँ से भी बचाया है।

'जिस व्यवहार के करने में जीव को अपनी महत्तादि की इच्छा हो...' मेरा बड़प्पन बढ़े, आबरू-कीर्ति बढ़े, समाज में मेरी गिनती हो, कुछ मेरा स्थान बढ़ने से अच्छा लगे - (यहाँ कहते हैं) उस प्रकार व्यवहार कर्तव्य नहीं है। (व्यवहार) ऐसी इच्छापूर्वक कर्तव्य नहीं है।

मुमुक्षु :- लौकिक व्यवहार के कार्य तो निरंतर रहते हैं।

पूज्य भाईश्री :- निरंतर रहते हैं इसलिए तो निरंतर डूबता आया है। भवभ्रमण के भवसागर में गोते खाता-खाता यहाँ तक पहुँचा है। यह बात तो प्रसिद्ध है कि सबको ऐसे भाव रहते हैं। परंतु यहाँ तो अब ये वचन ऐसे हैं कि भव-भ्रमण से निस्तार हो जाये। चाहे कहीं से भी जीव को बचा ले ! इसलिए अगर बचना हो तो यह बात है। अभी तक जो किया सो किया, हुआ सो हुआ। जो हो चुका इसमें तो अब कुछ नहीं कर सकते। 'जब समझे तब सवेरा।' उस प्रकार के परिणाम छोड़ देना। जो होता हो उसे होने दो, (परंतु) अपनी इच्छा खुद की महत्ता बढ़ाने की नहीं होनी चाहिए। यहाँ तक कल हमारा स्वाध्याय चला था। थोड़ा संक्षेप में लिया था।

आगे कहते हैं कि, 'हमारे समागम का अभी अंतराय जानकर निराशा को प्राप्त होना योग्य है; तथापि वैसा करने में 'ईश्वरेच्छा' जानकर समागम की कामना रखकर जितना परस्पर मुमुक्षुभाइयों का समागम हो सके उतना करें,...' क्या कहते हैं ? कि खुद का प्रत्यक्ष समागम अभी संभवित नहीं है। २६ वाँ वर्ष है। इन दिनों, इन एक-दो साल में खुद काफ़ी व्यस्त रहे हैं। निवृत्ति कम मिली है। करीब पौने दो साल से, हर साल जैसे मुंबई छोड़कर निवृत्ति क्षेत्र में चले आते थे वैसे नहीं आ पाये। अतः उस कारणवशात् अभी प्रत्यक्ष समागम संभवित नहीं है, जिससे (मुमुक्षु को) निराशा हो, यह स्वाभाविक है। जो (मुमुक्षु) प्रत्यक्ष समागम को चाहते हो, इच्छा रखते हो, उन लोगों को निराशा होना स्वाभाविक है। ऐसा होना स्वाभाविक है।

'तथापि वैसा करने में 'ईश्वरेच्छा' जानकर...' 'ईश्वरेच्छा' को अवतरण चिह्न में लिखा है। क्योंकि उनका अभिप्राय ईश्वरकर्ता की

मान्यतारूप नहीं था। परंतु 'ईश्वर' शब्द, 'हरि' शब्द, वे काफ़ी जगह कुदरत के कानून अनुसार, कुदरत के स्वभाव अनुसार स्वतः जो बनना होता है वह बनता है यह समझाने के लिए 'ईश्वरेच्छा' (शब्द का इस्तेमाल करते हैं।) क्योंकि जो लोग ईश्वरकर्ता में मानते हैं (उन लोगों ने) अपने ईश्वर को इच्छावाला माना है। जब कि जैनदर्शन में जो ईश्वर हैं - भगवान हैं उन्हें तो इच्छा ही नहीं होती (क्योंकि वे) वीतराग हैं। जैन दर्शन में जो ईश्वर हैं वे पूर्ण ऐश्वर्य को प्राप्त ऐसे वीतरागप्रभु हैं। वीतराग को तो कोई इच्छा नहीं होती। परंतु लौकिकभाषा में यह बात प्रचलित है कि 'ईश्वरेच्छा अनुसार सब बनता है' इसका अर्थ कि कुदरत के क्रम में जो होना है वही होता है।

समाधान ऐसे करना कि कुदरत के क्रम में समागम होना होगा (तब) होगा, लेकिन ऐसा जानकर भी समागम की कामना तो रखनी ही है। ऐसा समाधान नहीं करना है कि जिससे वह कामना बंद हो जाये। ऐसे समाधान नहीं करना। समागम होने योग्य हो तब (ही) होता है, फिर भी मुमुक्षु को शीघ्र-शीघ्र प्रत्यक्ष समागम कब मिले ? ऐसी भावना तो हुए बिना नहीं रहती। ऐसी समागम की कामना रखना। **'...जितना परस्पर मुमुक्षुभाइयों का समागम हो सके उतना करें,...'** यह सीधी आज्ञा है। कृपालुदेव की यह आज्ञा है, सर्व ज्ञानियों की (यह) आज्ञा है कि प्रत्यक्ष ज्ञानीपुरुष का समागम नहीं मिले तब, जिसका एक राह पर चलने का अभिप्राय है, परिभ्रमण से जिसको मुक्त होना है - भवरोग से छूटना है, ऐसे एक अभिप्रायवाले मुमुक्षुओं का समागम अवश्य करना। नियमितरूप से (सत्संग) करना ऐसा अब कहेंगे। (सत्संग) करना, यह सीधी आज्ञा है। जैसे जीने के लिए खाना-पीना, आराम करना, और भी जीवन में जरूरी चीज़ों

के बिना नहीं चलता है वैसे सत्संग बिना मुमुक्षु का जीवन नहीं चलना चाहिए। इतनी सत्संग की भावना इसलिए आवश्यक है, क्योंकि जब ज्ञानीपुरुष भी सत्संग को चाहते हैं तो मुमुक्षु को कितनी प्रबल भावना होनी चाहिए !! एक दिन भी कोई सत्संग में न आये तो उसे पूछना चाहिए कि, आपका आज का दिन बीता कैसे ? सत्संग नहीं मिला तो आपके परिणाम में क्या हुआ ? (सत्संग बिना) चला गया ? चल गया क्या ? आज का दिन आपका निकल गया क्या ? नहीं चलना चाहिए था। खेद होना चाहिए। इस प्रकार (प्रत्यक्ष ज्ञानीपुरुष के) सत्संग की कामना रखकर (उनके वियोग में) मुमुक्षुभाइयों से आपस में जितना हो सके उतना सत्संग करना चाहिए। विशेषरूप से जितना भी शक्य हो उतना करना चाहिए।

मुमुक्षु :- मुमुक्षु को सत्संग कैसे करना ? इसके लिए क्या मार्गदर्शन है ?

पूज्य भार्गवश्री :- मार्गदर्शन तो यह है कि जहाँ-जहाँ खुद को उलझन हो, वहाँ उस उलझन से निकलने के लिए आपस में विचारों का आदान-प्रदान करें। खुद जिस योग्यता में खड़ा हो, अपनी उस योग्यता का निवेदन करे। उस योग्यतामें से मैं एक कदम कैसे आगे बढ़ूँ इसके लिए विचार-विमर्श करें। अपने दोषों का भी प्रगटरूप से निवेदन करें। यद्यपि इसमें काफ़ी सरलता चाहिए। बिना सरलता तो संभव नहीं है। लेकिन अगर इतनी आत्मीयता हो तो वह भी कर्तव्य है। विशेषतः कर्तव्य है। वरना प्रायः अपनी भूल समझ में नहीं आती है, जो कि दूसरे मुमुक्षुओं के द्वारा समझ में आती है, इसलिए तब उस कहनेवाले को उपकारी गिनना चाहिए। बिलकुल भी बुरा तो न माने किन्तु उन्हें उपकारी गिनना चाहिए। 'दीठा नहीं निज दोष तो तरीये कोण उपाय ?' दूसरा कोई उपाय

नहीं है। तिरने का अन्य कोई उपाय नहीं है। देखो तो सही ! कितना-कितना मार्गदर्शन दिया है !

‘जितनी हो सके उतनी प्रवृत्ति में विरक्तता रखें,...’ विरक्तता माने रसरहितपना, नीरसता। रक्त अर्थात् एकाग्र होना। रस से एकाग्र होना उसे रक्त कहते हैं। ऐसा नहीं करना उसे विरक्तता कहते हैं। आगे (दूसरे पैराग्राफ में कहा कि) **‘...प्रवृत्ति के प्रसंगों में अत्यंत सावधानी रखना योग्य है।’** अगर जागृति न रही तो रस की वृद्धि हुए बिना रहेगी नहीं। जागृति रखने पर वह (प्रवृत्ति) नीरस परिणाम से होगी। (अतः) **‘जितनी हो सके उतनी प्रवृत्ति में विरक्तता रखें, सत्पुरुषों के चरित्र और मार्गानुसारी जीवों के वचन और जिनका उद्देश मुख्यतः आत्मा को कहने का है, ऐसे ग्रंथों का (परिचय रखें)’** ग्रंथ का और व्यक्ति का - मार्गानुसारी जीवों के कृपालुदेव ने कौंस में नाम भी दिये हैं।

‘जितनी हो सके उतनी प्रवृत्ति में विरक्तता रखें, सत्पुरुषों के चरित्र...’ (अर्थात्) ज्ञानीपुरुषों के चरित्र का परिचय रखना। अनेक प्रकार की संयोग-वियोग की उथल-पुथल, अनुकूलता-प्रतिकूलता के प्रसंगों में ज्ञानीपुरुषों ने अपनी आत्मदशा कैसे बनाये रखी है ? कैसे टिकाये रखी है ? और कैसे वृद्धिगत् की है ? यह सारा इनका चरित्र है। उन चरित्रों का परिचय करना। **‘और मार्गानुसारी (सुंदरदास, प्रीतम, अखा, कबीर, आदि) जीवों के वचन...’** क्यों ऐसे जीवों के वचन कहें और दूसरे शास्त्रों के नाम नहीं लिये ? यह विचार करने योग्य है। ठीक ! जब कि दूसरे शास्त्र भी तो उपलब्ध हैं। और (खुदने ही) महान शास्त्रों के - सत्श्रुत के नाम लिखे हैं। पीछे २० शास्त्रों की List है। परंतु यहाँ वह बात नहीं लेते। उनमें से एक भी शास्त्र का उल्लेख नहीं किया। (क्योंकि) मुमुक्षु

की भूमिका के योग्य क्या है ? इसकी यहाँ सिखावन दी है। जैसे आपको अभी क्या काम में आयेगा ?

बहुत पौष्टिक खुराक हो, चार सेर घी का बनाया मैसुब (एक प्रकार की मिठाई) बनाया हो या 'सालम पाक' बनाया हो, चार सेर घी का मतलब है एक सेर आटे में चार सेर घी (डाला) हो, लेकिन वह इक्कीस दिन से जिसको टाइफाइड हुआ हो उसको नहीं खिला सकते। कोई ऐसा सोच ले, कि बहुत कमजोरी आयी है तो 'चलो अच्छी तरह घी खिला दे ! लेकिन नहीं खिला सकते, वह मर जाएगा। उसको तो मूँग का पानी देना पड़े। जब कि मूँग के पानी की कोई कीमत नहीं है, मिष्टान्न की कीमत बहुत है। मूँग का पानी इतनी शक्ति नहीं देता जितना घी देता है, मिष्टान्न देता है। परंतु कब क्या खाना इसका विवेक होना चाहिए।

वैसे यहाँ मुमुक्षु के लिए क्या योग्य है ? (यह मार्गदर्शन है)। सुंदरदास का (एक) ग्रंथ है। अभी इन दिनों ही हाथ में आया है। 'सस्तु साहित्य वर्धक कार्यालय' अहमदाबाद की ओर से प्रकाशित हुआ है। मेरे पास तो बहुत ही पुरानी Edition आयी है। लेकिन बहुत अच्छे २१ प्रकरण इसमें हैं। गुरु के, ज्ञानी के, अनुभव के, पुरुषार्थ के, शूरवीरता के अंग (ऐसे-ऐसे नाम हैं)। कृपालुदेव ने उद्धरण किया है वह 'शूरवीरता को अंग' है। प्रकरण को अंग ऐसा नाम दिया है। उन्होंने बहुत सी बातें लिखी हैं। मुमुक्षु को वे विशेष असर कर जाये ऐसे वचन हैं इसलिए (इन सबका उल्लेख किया है)। क्यों इसका परिचय करने का कहते हैं ? क्योंकि मुमुक्षु की भूमिका के लिए इसमें विशेष असरकारक वचन हैं।

इसलिए कहा कि, 'मार्गानुसारी जीवों के वचन और जिनका उद्देश मुख्यतः आत्मा को कहने का है, ऐसे (विचारसागर, सुंदरदास

के ग्रंथ, आनंदघनजी, बनारसीदास, कबीर, अखा इत्यादि के पद ग्रंथों...' बनारसीदासजी के पद में भी ऐसी बहुत-सी बातें हैं। बनारसीदासजी एक बहुत महान कवि हो गये, जिन्होंने 'समयसार कलशटीका' पर से 'नाटक समयसार' की रचना की (है)। प्रसिद्ध ग्रंथ है। उसमें भी बहुत से पद हैं। इसके अलावा दूसरी भी इनकी बहुत-सी रचनाएँ हैं। 'बनारसी विलास' नाम से (ग्रंथ) है। जैसे 'सुंदर विलास' है वैसे 'बनारसी विलास' नाम का ग्रंथ है। 'ऐसे ग्रंथों का परिचय रखें, और इन सब साधनों में मुख्य साधन...' इन सब में मुख्य साधन 'तो श्री सत्पुरुष का समागम मानें।' उसकी मुख्यता रखना। सत्पुरुष का समागम छोड़कर घर में ग्रंथ पढ़ने मत बैठ जाना।

मुमुक्षु :- यहाँ बंबई में सत्पुरुष को कहाँ खोजे ?

पूज्य भाईश्री :- हाँ, पहले सवाल तो यह उठता है कि हम ऐसी योग्यता में आयें, परखने की - पहचानने की योग्यता में तो आना होगा कि नहीं ? ऐसा तो नहीं है कि कोई पटिया लगाकर घूमते हैं ! वैसे तो कोई पटिया लगाकर घूमे तो इसका तो फिर विचार भी करना पड़े कि इसने पटिया क्यों लगाया है ? समझे ? यानी कि यह विषय परख का है। यह विषय कोई कहने का नहीं है, कहने का नहीं है मतबल सुनने का भी नहीं है। हीरा खरीदना हो तो जौहरी बनना पड़े - ऐसा विषय है। यह तैयारी पहले करनी है।

'...इन सब साधनों में मुख्य साधन तो श्री सत्पुरुष का समागम मानें।' यह तो समझ में क्या रखना ? (यह कहते हैं)। समझ में मूल्यांकन जैसा होगा वैसी प्रवृत्ति और खोज चलेगी। कृपालुदेव तो पुकार-पुकार कर यह बात कहते हैं।

मुमुक्षु :- कृपालुदेव के ग्रंथ का वांचन करे तो काम नहीं होगा ?

पूज्य भाईश्री :- दर्शनमोह मंद होगा। मोह रहित पुरुषों की महिमा, भक्ति करने से दर्शनमोह का अनुभाग कटता है। दर्शनमोह का अनुभाग घटता है। इसलिए कर्तव्य है, ऐसा है। फिर भी व्यक्तिगत प्रश्न की चर्चा समूह स्वाध्याय में कर्तव्य नहीं है। किसी व्यक्ति-विशेष के प्रश्न की चर्चा उचित नहीं है।

यहाँ तो सीधी आज्ञा है। कृपालुदेव की स्पष्ट आज्ञा है, 'दूसरा कुछ मत खोज़, मात्र एक सत्पुरुष को खोजकर उसके चरणकमल में सर्वभाव अर्पण करके प्रवृत्ति करता रह।' यह Condition है। क्या हम इसके लिए तैयार हैं ? हमें सत्पुरुष तो चाहिए लेकिन क्या सर्वभाव अर्पण करने की हमारी तैयारी है ? किसी को प्रकृति छोड़नी नहीं है। मर जायेगा लेकिन प्रकृति छोड़ना नहीं चाहता। धन-दौलत दे देगा, तन-मन-धन दे देगा परंतु प्रकृति छोड़नी हो, तो मृत्यु तुल्य वेदना होती है। यह शर्त है कि यदि तुझे सत्पुरुष को खोजने की इच्छा हो तो सर्वभाव अर्पण करने की पूर्व तैयारी रखना। फिर मोक्ष न मिले तो मुझ से लेना। सिर्फ सत्पुरुष के मिलने से ही मोक्ष हो जाता, तो वैसे तो अनंतकाल में अनंतबार सत्पुरुष तो क्या तीर्थकर भी मिल चुके हैं। निर्ग्रंथ गुरु, भावलिंगी संत, आचार्य भी मिले हैं। जब कि सत्पुरुष तो इससे भी अधिक बार मिले हैं। क्योंकि जितना नीचे-नीचे जाये उत्तरोत्तर उतनी संख्या बढ़ती जाती है। परंतु इस जीव की सर्वभाव अर्पण करने की तैयारी एक भी जगह नहीं हुई। तीर्थकर के आगे भी नहीं थी, निर्ग्रंथ गुरु के पास भी नहीं थी, और सत्पुरुष के पास भी नहीं थी। फिर कहे कि, हमें मोक्ष चाहिए, लेकिन हमारी प्रामाणिकता कितनी है ?

हमारी बात कितनी हास्यास्पद है कि, जैसे कोई भिखारी बाज़ार में भीख माँगने निकले और नमकीनवाले की दुकान पर कहे कि एक मुट्ठीभर नमकीन दे दो, उसने वह डाल भी दिया, ठीक बगल में जौहरी की दुकान थी वहाँ जाकर कहने लगा एक मुट्ठी सोना दे दो। तो वैसे कोई देगा क्या ? मुट्ठी भर नमकीन मिल सकता है लेकिन सोना मिल सकता है क्या ? वैसे मोक्ष तो चाहिए लेकिन वह कोई नमकीन जितना सस्ता नहीं है !! इसलिए कहा कि सर्वभाव अर्पण करके प्रवृत्ति करते रहो, फिर मोक्ष नहीं मिले तो (मुझ से लेना)। ऐसे दस्तावेज कृपालुदेव कर गये हैं। मोक्ष देने का दस्तावेज, जामिनदार बने हैं। Witness की जगह, वीतरागदेव की साक्षीपूर्वक कहा है। - कि, एक सत्पुरुष मिले और सर्वभाव अर्पण करके प्रवृत्ति कर, फिर मोक्ष न मिले तो.... 'न भूतो न भविष्यतिः' मैं इसका Guarantor हूँ ! मेरा अनुभव कहता है ऐसा कहते हैं। क्या कहा ? और मेरा अनुभव जो है वह तीनों काल के ज्ञानियों का अनुभव है। इसमें कोई फ़र्क नहीं है, किन्तु जीव की तैयारी नहीं है।

दस रुपया लेकर जवाहरात खरीदने नहीं निकला जाता। जवाहरात खरीदना हो तो दस-बीस रुपये लेकर जौहरीबाजार में नहीं जा सकते। वहाँ पूरी तैयारीपूर्वक जाना पड़ता है। यहाँ तो यह इससे भी महँगी चीज़ है ! संक्षेप में हिसाब लगाना चाहे तो एक मिनट में इतना लगा सकते हैं कि चारों गति में जन्म के दुःख, मरने के दुःख, पीड़ा, रोग, बाधा और सब से बड़ा टेन्शन (तनाव) का दुःख कि जिसके कारण आदमी खुदकुशी कर लेता है, मरना पसंद करता है, इन सारे दुःखों से छूटने की आप कितनी कीमत चुकाना चाहोगे ? यह पहले नक्की करो। आप क्या कीमत चुकाना चाहते हो ? यह तो हुआ नुकसान का हिसाब। अब मुनाफा

कितना है ? कि - 'सादि अनंत-अनंत समाधि सुख मां, अनंत दर्शन, अनंतज्ञान सहित जो।' इतना मुनाफा !! कितने नुकसान से बचे और कितना फायदा !! अब इसकी कीमत करे कैसे ? जगत में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो बदले में चुकाया जा सके। जब कि कृपालुदेव ने बहुत संक्षेप में बात कर दी कि, तुझे जितने भी भाव हो रहे हैं, सब अर्पण करते जाओ ! मुझे तो एक पाई भी तुम्हारी नहीं चाहिए। हम तो निस्पृह हैं। तेरे से कुछ नहीं चाहिए। हमारी कोई जरूरत भी नहीं है । लेकिन क्या तुम अपने सर्वभाव अर्पण कर सकते हो ? क्या इतनी तैयारी है तुम्हारी ? हमें तो कुछ नहीं चाहिए। जो लाभ होगा वह तो तुझे होगा, लेकिन इतनी शर्त है। इतनी तैयारीवाले का काम है - दूसरे का इसमें काम नहीं। ऊपर-ऊपर से तो अनंतकाल पर्यंत चला आया है। इस एक भव में भी यदि ऊपर-ऊपर से चलेगा तो वापिस ऐसा मौका नहीं मिलेगा। इस तरह गिनती में - अभिप्राय में मुख्य बात कौन-सी रखने योग्य है ? यह कह दी कि सदग्रंथ भी मौजूद हो, मुमुक्षुओं का सत्संग भी हो, फिर भी ज्ञानीपुरुष का सत्संग यह कोई सर्वोत्कृष्ट साधन है, यह समझ में रखना।

(अब कहते हैं) **'हमारे समागम का अंतराय जानकर चित्त में प्रमाद को अवकाश देना योग्य नहीं है,...**' हम काफ़ी समय से प्रत्यक्ष समागम में नहीं आ सके, उस विषय में - उस प्रसंग में कोई अंतराय है फिर भी आपके चित्त में इसको लेकर आत्मकार्य में - आत्मकल्याण के कार्य में तनिक-सा भी प्रमाद होना नहीं चाहिए। अवकाश देना मतलब प्रमाद को आने की खाली जगह नहीं देनी चाहिए। मुमुक्षु किसे कहें ?

यहाँ उसका चित्र स्पष्ट करते हैं कि मुमुक्षु कैसा होता है ?

पूरा जगत इष्ट-अनिष्टपने के परिणाम में डूबा हुआ है। यह मुझे ठीक है, यह मुझे ठीक नहीं, यह मेरे लिए ठीक है और यह मेरे लिए ठीक नहीं है। यह मुझे सुहाता है, यह मुझे नहीं सुहाता। यह अनुकूल है, यह प्रतिकूल है। सारे जगत के जीवों के परिणाम इसमें से अवकाश नहीं ले पाते। एक मुमुक्षुजीव ऐसा है जो इष्ट-अनिष्टपना मिटाने के लिए निरंतर प्रयत्नवान है। कब ? सिर्फ शास्त्र पढ़ने बैठा हो तब नहीं !! या घंटे - दो घंटे मंदिर जाये और भक्ति करे, उस वक्त ही (प्रयत्न) करे ऐसे नहीं, परंतु वह निरंतर प्रयत्नवान है। इस जीव को प्रतिक्षण इष्ट-अनिष्टपना क्यों होता है ? जब कि कोई पदार्थ इष्ट-अनिष्ट तो है नहीं, सिर्फ यह जीव की कल्पना है। इतना ही नहीं आत्मा का स्वभाव भी परपदार्थ में इष्ट-अनिष्टपना करने का नहीं है। ज्ञान का - आत्मा का ऐसा स्वभाव नहीं है। इस तरह दोनों तरफ से बात स्पष्ट है, फिर भी इस जीव को कल्पना होती है और वह कर्म बंधन करके भवभ्रमण में भटकता है। इसका भय क्यों नहीं ? निरंतर उससे छूटने का जो कामी है, मोक्षार्थी है और प्रयत्नवंत है, उद्यमवंत है, उसको यहाँ मुमुक्षु कहते हैं। वरना तो जैसे साधु वेशधारी होते हैं, वैसे मुमुक्षु भी वेशधारी हो जाएगा। कि, जैसे हम इस संस्था में जाते हैं, उस संस्था के हम Member (सभ्य) हैं। उसके कार्यक्रम में हमें खबर दी जाती है, और उसमें हम शामिल होते हैं। वह कोई मुमुक्षुता नहीं है, (मुमुक्षु तो) निरंतर भीतर में उद्यमवंत होता है, पुरुषार्थवंत होता है। प्रमाद नहीं करता। प्रमाद चोर है, बड़ा दुश्मन है, ऐसी जागृति में वह रहता है। यहाँ उसकी बात चलती है।

‘हमारे समागम का अंतराय जानकर चित्त में प्रमाद को अवकाश देना योग्य नहीं है; परस्पर मुमुक्षुभाइयों के समागम को अव्यवस्थित

होने देना योग्य नहीं है;... (सत्समागम) व्यवस्थित - नियमित रखना। हमेशा स्वाध्याय चाहिए। हमेशा सत्संग चाहिए। (वह भी) अनियमितरूप से नहीं कि, समय रहेगा तो सत्संग में जायेंगे, वरना कोई बात नहीं। यह तो Top Priority का Subject है। एकदम इसकी मुख्यता आनी चाहिए। दूसरा सब बाद में। संसार में कहलानेवाले जिम्मेदारी के कार्य... कैसे ? वास्तव में नहीं, (परंतु) संसार के कहलाने मात्र जिम्मेदारी के कार्यों से भी जिसकी महत्ता विशेषतः भासित हुई हो ऐसे सत्संग और स्वाध्याय को अव्यवस्थित होने देना उचित नहीं है। जितने सगे-संबंधी और जिस-जिस के साथ काम पड़ता हो, बाजार, धंधा, व्यवसाय या सामाजिक कोई भी (व्यक्ति) हो चाहे, उसे पता होना चाहिए कि इस वक्त (यह भाई) नहीं मिलेंगे। इस वक्त दूसरा काम हाथ में नहीं लेंगे, टेलिफोन नहीं उठायेंगे, फोन करेंगे तो बात नहीं करेंगे। ऐसी अपनी मुख्यता से दूसरा भी वाकिफ होना चाहिए ! जिससे कि वह अपने Time में मिलने की कोशिश न करें, और करे तो भी निष्फल जाये। (मुमुक्षु को ऐसा ही रहे) कि मेरी मुख्यता इसमें है। अन्यमति में भी इतना तो होता है। अन्यमति इतने दृढ़तावाले होते हैं कि भाई ! अभी हम माला जपते हैं, इसलिए किसी से बात नहीं करेंगे। कह देना बाद में बात करेंगे। कह देना बाद में आये। अब जहाँ बिलकुल अंधेरा है, कुछ पता नहीं है, उसकी भी इतनी टेक और इतनी दृढ़ता रहती हो, तो यहाँ तो अमृत ही अमृत है। जीव अजर-अमर पद को प्राप्त कर ले ऐसी चीज़ है। यहाँ भी जब शिथिलता, अनियमितता रहती हो फिर हम आशा धरे कि क्यों लाभ नहीं होता है ? इतने-इतने वर्ष मुमुक्षुता में गुजारे फिर भी फायदा क्यों नहीं हुआ ? (लेकिन) फायदा होने जैसी परिस्थिति थी ही कहाँ पहले से ? क्योंकि Last

Priority से काम चलता है। Second priority में भी नहीं। यद्यपि Second priority इसमें है ही नहीं। पहली और आखरी दो ही हैं।

पहले इसकी मुख्यता आ जानी चाहिए। पहले में पहले यह बात (रहनी चाहिए कि) इस जगत में मेरे आत्मकल्याण से विशेष दूसरा कोई प्रसंग नहीं है। यह मुमुक्षु की प्रतिज्ञा होनी चाहिए। नियम दिलाते हैं न ! कि आज आपको उपवास करना है। महाराज के पास जाकर नियम लेते हैं कि नहीं ? लेकिन प्रतिज्ञा तो इसकी करने जैसी है। नियम तो यह लेने जैसा है कि मेरे आत्मकल्याण से जगत में कोई प्रसंग विशेष नहीं है कि इसे गौण करके दूसरे की मुख्यता हो सके ! फिर आत्मकल्याण न हो, यह असंभव है। फिर नहीं हो यह बात नहीं रहती। Guranteed बात है। परंतु इतनी तैयारी होनी चाहिए। (कृपालुदेव ने कहा न !) **'जगत इष्ट नहीं आत्मथी, मध्यपात्र महाभाग्य।'** एक-एक वचन है कोई...!! प्रत्येक बात की स्पष्टता कर दी है !! इधर तो अभी 'मध्यपात्र' लिया है !! अभी उत्कृष्ट पात्र होने में तो देर है। यहाँ अभी तो 'मध्यपात्र' कहा। पात्रता में मध्यमकोटि का जीव है। यानी कि इतनी तैयारी तो मध्यम कक्षा के जीव की होनी चाहिए। फिर उत्कृष्टता आयेगी।

(यहाँ कहते हैं) **'परस्पर मुमुक्षुभाइयों के समागम को अव्यवस्थित होने देना योग्य नहीं है;...'** कितनी मृदुभाषा में बात करते हैं !! 'योग्य नहीं है' ऐसा लिखते हैं। परंतु यह आज्ञा है। मुमुक्षु जीव को खुद को यह आज्ञा दी है और इस आज्ञा का चुस्तता से पालन करना है, परिपालन करना है - ऐसी खुद की स्वाध्याय के दौरान ही तैयारी हो जानी चाहिए। **'...निवृत्ति के क्षेत्र का प्रसंग न्यून होने देना योग्य नहीं है;...'** (यानी) मुमुक्षुभाइयों को निवृत्ति क्षेत्र में चले जाना। यह (मुंबई) तो परेशानीरूप मोहमयी नगरी है। यहाँ

तो लोगों को कैसे-कैसे परिणाम से काम करना पड़ता है, यह देखकर चक्कर आ जाये ऐसा है !! हम से ऐसे परिणाम होने का तो सवाल नहीं है लेकिन देखकर भी चक्कर आ जाये ऐसा है !! परिणाम की क्या स्थिति ! आकुलता... आकुलता... आकुलता... किसी को जैसे चैन ही नहीं हो ! सारी नगरी बेचैनी का शिकार है। बेचैनी... बेचैनी... बेचैनी... बेचैनी.. देखते ही त्रास हो जाय ! इसलिए कहते हैं कि निवृत्ति क्षेत्र में चले जाना। ऐसे प्रसंग बार-बार करना। अभी तो वैसे सहूलियत भी काफ़ी हो गई। कृपालुदेव के जमाने में तो इतनी सहूलियत नहीं थी। फिर भी वे राळज, काविठा, जैसे छोटे-छोटे गाँव में चले जाते थे। जहाँ छोटे-छोटे घर हो, मकान हो, छोटा गाँव हो, जहाँ इतनी साफ-सफाई न हो। अभी जो देवलाली में आश्रम है ऐसे आश्रम तब कहाँ (थे) ? अभी तो सब साफ-सफाई और सहूलियत और अनुकूलता हो गई ! तब तो ऐसा नहीं था फिर भी मुंबई छोड़-छोड़कर निवृत्ति में चले जाते थे, धंधा छोड़कर चले जाते थे। अभी तो कृपालुदेव के नाम से कितने ही आश्रम चल रहे हैं ! निवृत्तिक्षेत्र तो बहुत-से हैं, इसके अलावा दूसरे भी काफ़ी निवृत्तिक्षेत्र हैं। तीर्थयात्रा के क्षेत्र हैं, वे सारे निवृत्ति के क्षेत्र हैं। M.P. में बहुत हैं। सम्मेदशिखर आदि बिहार में काफ़ी हैं। (इस तरफ) दक्षिण में भी बहुत हैं - पोन्नूर, श्रवणबेलगोला और भी काफ़ी हैं। एकांत में - जहाँ संसार की कोई चिंता न हो ऐसी जगह जाकर, सब जगह से निवृत्ति लेकर, अंतर-बाह्य निवृत्त होकर, निवृत्ति क्षेत्र में परम सरलता से, परम भक्ति से सत्संग की उपासना कर्तव्य है।

ऐसे 'निवृत्ति के क्षेत्र का प्रसंग न्यून होने देना योग्य नहीं है; कामनापूर्वक प्रवृत्ति योग्य नहीं है;...' देखो ! प्रवृत्ति करो वह भी

कामनापूर्वक नहीं करनी है ठीक ! सुबह थोड़ी चर्चा चली थी। अपेक्षावृत्ति से नहीं करनी है, जेल में डाला है और जितना काम जेलर करवाये वह किये बिना छुटकारा नहीं है, फिर भले ही पथर तोड़ना पड़े तो तोड़ लेना। परंतु उसमें रस और रुचि, अपेक्षा और आशा रखने जैसा नहीं है। प्रवृत्ति करते-करते इतना मिल जाये तो अच्छा ! इतनी अनुकूलता हो जाये तो ठीक ! (ऐसी इच्छा रहती हो) वह (जीव) इष्ट-अनिष्टपना छोड़ कैसे सकेगा ? इष्ट-अनिष्टपना मिटाने का भीतर में जो पुरुषार्थ करना है, वह उद्यम होगा कहाँ से ? अभिप्राय में ही दूसरी बात लेकर बैठ गया है; प्रवृत्ति तो करनी पड़ती है, वैसे भी पूर्व प्रारब्ध अनुसार ही बननेवाला है। मैं कामना रखूँ तो भी व्यर्थ जाएगी। मैं ऐसी भावना, आशा, अपेक्षा रखूँ तो भी वह व्यर्थ है। ऐसा कभी किसीका नहीं बनता, बनने योग्य है भी नहीं। यह तो परिणाम में गिरावट की स्थिति न आये इसलिए भी जुड़ना पड़ता है, जुड़ना नहीं हो तो भी जुड़ना पड़ता है। - ऐसे भावपूर्वक कामना रहित होकर प्रवृत्ति करनी है। आशा-अपेक्षा रखकर नहीं। जब तक जीवन में संयोगों की आधारबुद्धि और संयोगों में सुखबुद्धि है तब तक दृढ़ मोक्षेच्छा उत्पन्न होना नामुमकिन है। जब दृढ़ मोक्षेच्छा ही उत्पन्न न हो तब तक मुमुक्षुता का प्रारंभ हुआ है ऐसा मानना भी नहीं चाहिए। फिर आगे की तो कोई बात रहती ही नहीं है। यहाँ से फिर आगे चलना है।

कृपालुदेव ने उस विषय में, क्रम के विषय में, मुमुक्षुता का अनुक्रम - विकास क्रम पर २५४ नंबर का पत्र लिखा है। चार साल पहले यहीं पर २५४ पत्र पर स्वाध्याय चला था। आठ दिन तक यही पत्र चला था। बहुत अच्छा पत्र है। मुमुक्षु को मार्गदर्शक

होने में बहुत अच्छा पत्र है। प्रायः कोई अनुक्रम को नहीं समझता है। यहाँ तक कि, उस पत्र में अनुक्रम का बोध दिया है यह भी खयाल में नहीं है। परंतु यही विषय लिया है कि मुमुक्षुता का प्रारंभ कैसे हो ? और यह मुमुक्षुता वृद्धिगत् होने का यथार्थ क्रम कौन-सा है ? उसका अनुक्रम वहाँ पत्र-२५४ पत्र में (लिया है)। उसमें गूढ शास्त्रार्थ प्रतिपादन किया है। उस (पत्र) के (अंत) में एक वचन लिखते हैं कि, इसमें हमने गूढ शास्त्रार्थ प्रतिपादन किया है। संक्षेप में लिखे गये इस पत्र का (मुमुक्षुओं को) आपस में विचार करके विस्तार करना - ऐसी सीधी आज्ञा की है। यदि ऐसा नहीं किया गया तो हम उनकी आज्ञा का अनुसरण करना चाहते भी नहीं है। परस्पर मिलकर उसका विचार - विस्तार कर्तव्य है।

‘कामनापूर्वक प्रवृत्ति योग्य नहीं है;...’ एक चार शब्द के वाक्य में, दोनों तरफ तो अभी अल्पविराम है, आगे भी अल्पविराम है और पीछे भी अल्पविराम है, बीच में चार शब्द लिखे हैं परंतु मार्गदर्शन कितना अच्छा है !! कि इतना भी अगर अंगीकार कर ले तो कितनी जगह से बच जाये !! क्योंकि जीव का संसार उसकी उदय प्रवृत्ति में ही है, और कहीं नहीं। तीव्र रसपूर्वक जो उदय में प्रवृत्ति होती है वही उसका संसार है। उसमें उसकी दुनियाभर की आशा-अपेक्षाएँ पड़ी हैं। वह कामनापूर्वक कर्तव्य नहीं है। चार शब्द ही लिखे हैं। (प्रवृत्ति) कामनापूर्वक करने योग्य नहीं है। चार शब्द ही पड़े हैं। **‘...कामना पूर्वक प्रवृत्ति योग्य नहीं है;...’** बस ! इतना संक्षेप यदि जीव में परिणमन कर ले तो एक वचन में हजार जगह से बच जाये ऐसा है। ‘मंत्र मूलं गुरु वाक्यम्’ जैसा है। यह मंत्र है - ‘मंत्र मूलं गुरु वाक्यम्, मोक्ष मूलं गुरु कृपा।’

‘ऐसा विचारकर यथासंभव अप्रमत्तता का, परस्पर के समागम का, निवृत्ति के क्षेत्र का और प्रवृत्ति की उदासीनता का आराधन करें।’ ऐसा विचार करके ‘यथासंभव’ यानी कि अपनी पूरी शक्ति से, पूरे उद्यम से, पूरे पुरुषार्थ से, प्रमाद छोड़कर, प्रमाद छोड़कर अर्थात् जगत के कार्यों में प्रवृत्ति करना, उदय के कार्यों में रस लेना ही मुमुक्षु की भूमिका का प्रमाद है। प्रमाद का अर्थ ऐशो आराम से सो जाना, ऐसा नहीं। दूसरे शुभाशुभ परिणाम की प्रवृत्ति में आत्मकल्याण को गौण करके प्रवृत्ति करना वह सारा प्रमाद है। उस अप्रमादता का विशेषतः आराधन करना। परस्पर मुमुक्षु के समागम - सत्संग का आराधन करना। निवृत्ति के क्षेत्र में जाकर उस (सत्संग) का आराधन करना। और जो प्रवृत्ति चलती हो उसमें उदासीनता का आराधन करना। ‘आराधन’ क्रियापद सबको लागू पड़ता है।

मुमुक्षु :- शुभभाव भी प्रमाद में जाता है ?

पूज्य भाईश्री :- हाँ, आ जाता है। आत्मकल्याण के लक्ष्य बिना के सब शुभ और अशुभ भाव ‘प्रमाद’ ही है। उसमें जागृति नहीं है, सावधानी नहीं है, वह सारा प्रमाद है - फिर चाहे कोई भी परिणाम हो। जिसमें जीवको अपनी (आत्महित की) सावधानी व जागृति नहीं हो, वह सारा प्रमाद है।

‘जो प्रवृत्ति यहाँ उदय में है,...’ अब अपनी बात करते हैं कि हम प्रवृत्ति, निवृत्ति, विरक्तता (इत्यादि की) इतनी-इतनी बातें मुंबई में बैठे-बैठे लिखते हैं तब हमारी क्या हालत है यह साथ-साथ कह रहे हैं कि ‘जो प्रवृत्ति यहाँ उदय में है,...’ (यानी) हमें जो उदय है ‘...वह ऐसी है कि दूसरे द्वार से चले जाते हुए भी छोड़ी नहीं जा सकती,...’ आगे के रास्ते से तो कोई निकलने देंगे

ही नहीं, किन्तु एक बार पीछले दरवाजे से भागना चाहे तो भी छूट नहीं सकते ऐसी प्रवृत्ति में हम फँसे हैं, इसलिए यहाँ बैठे हैं। हमें कोई इसमें रस-रुचि, आशा-अपेक्षा है, या कुछ लेने के लिए बैठे हैं - ऐसी कल्पना बिलकुल करने योग्य नहीं है। ऐसी ही कोई परिस्थिति में हैं, इसलिए 'वेदन करने योग्य है।' यह वेदन करने योग्य है - ऐसा जो लिखा है वह बहुत ही गंभीर वचन है।

वेदन करते हैं इसका मतलब उस उदयमें से पूर्व प्रारब्ध कर्म की निर्जरा करते-करते उस प्रसंगमें से गुजरते हैं। इस प्रवृत्ति के प्रसंग में योग और उपयोग की प्रवृत्ति (होती) है। योग का मतलब मन-वचन-काया का योग और उपयोग मतलब ज्ञान का व्यापार-बुद्धि का व्यवसाय। ऐसी जो भी प्रवृत्ति है उस प्रवृत्ति में, इससे भिन्नता का हमारा आत्म-पुरुषार्थ, इससे भिन्नता अनुभव करने का हमारा आत्म-पुरुषार्थ भी अत्यंत जागृतदशा में वर्तता है, उसको दिखाने के लिए 'वेदन करने योग्य है,...' ऐसा कह कर छोड़ दिया। ज्ञानीपुरुष की ऐसी अंतरंग दशा कैसी होगी ? यह समझे बिना ज्ञानीपुरुष पूर्व प्रारब्ध का वेदन कैसे करते होंगे ? - यह समझ में आना संभव नहीं है। फिर ओघसंज्ञा से चाहे कुछ भी मान ले, यह दूसरी बात है। परंतु यदि ऐसी ज्ञानदशा का प्रत्यक्ष चितार, प्रत्यक्ष प्रतिभास भीतर में आ जाये तो उनका आत्माकार - आत्मारूप परिणमन जो है, उसके प्रति नमस्कार हुए बिना रहे नहीं ! हृदय और मस्तक झुके बिना रहे नहीं। ऐसी वह अलौकिक दशा होती है !! प्रारब्ध को वेदते हुए वे संसार से छूट रहे हैं, संसार से छूटते हैं। ऐसी एक ज्ञानकला है। बनारसीदासजी ने गाया है कि 'ज्ञानकला जिसके घट जागी' ऐसे ज्ञानी अंतर से सहज वैरागी होते हैं। छोड़ न सके ऐसी प्रवृत्ति है, वेदन करने योग्य है। पूर्व में प्रारब्धरूपी जो

कर्ज किया था, उसे ईमानदारीपूर्वक बिना हिचकिचाहट चुका देना है। ब्याज पर पैसे लिए हो तो सज्जन तो उसे कहते हैं जो ब्याज सहित वापिस करे। '(सिर्फ) ब्याज नहीं, चक्रवर्ती ब्याज के साथ ले जाओ भाई !' हमें एक पैसा भी बिना हक का नहीं चाहिए। ज्ञानियों की ऐसी ईमानदारी होती है।

वेदन करने योग्य है इसलिए वेदन करते हैं। पता है कि यह प्रारब्ध कर्म जो है वह निवृत्त नहीं होगा, बिना वेदन किये निवृत्त नहीं होगा। लेकिन समपरिणाम से वेदन करते हैं। यह बात उन्होंने पत्रांक - ४०८ में की है कि, यह ज्ञानीपुरुष का सनातन आचरण है। सनातन माने तीनों काल के ज्ञानीपुरुषों का अंतर आचरण ऐसा ही रहा है ! पूर्व-प्रारब्ध का वेदन करते-करते वे छूट रहे हैं। मोक्षमार्ग में मोक्ष के प्रति, प्रतिक्षण अनन्यभाव से प्रवर्तन कर रहे हैं। **'...वेदन करने योग्य है, इसलिए उसका अनुसरण करते हैं;...'** ऐसा अनुसरण करने में हमारी प्रामाणिकता के अलावा हमें कुछ लेना-देना नहीं है। नया कर्ज नहीं करते हैं। लोन लेकर नहीं चुकाते हैं। हमारी खुद की संपत्तिमें से देते हैं। **'तथापि अव्याबाध स्थिति में...'** (अर्थात्) उस प्रारब्ध का वेदन और अनुसरण करते हुए भी अव्याबाध स्थिति में हमारा जो आत्मपरिणमन है उसे बाधा नहीं पहुँचती है। वह स्थिति यथावत् बनी रहती है।

'अव्याबाध स्थिति में जैसा का तैसा...' बराबर - यथायोग्य **'स्वास्थ्य है।'** हम स्वस्थ हैं। स्वरूप में स्वस्थ रहते हुए अव्याबाध परिणाम से इस प्रवृत्ति का अनुसरण करते हैं। देखो ! एक-एक वचन... ! ज्ञानदशा को प्रसिद्ध करते हुए ये वचन हैं। अपना समय हो चुका है। विषय तो बहुत अच्छा आया है। दोपहर के स्वाध्याय में थोड़ा विशेष लेंगे। यहाँ तक रखते हैं।



प्रवचन - १० दि. ३१-७-१९९४ - पत्रांक-४४९ (६)

श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत। पत्रांक - ४४९, पत्रा - ३८०। सातवें पोस्टकार्ड का विषय चलता है। मुमुक्षुजीव को प्रमाद छोड़कर प्रवृत्ति के कार्यों को उदासीनतापूर्वक आराधन करके सत्संग का आराधन करना - ऐसी कृपालुदेव की आज्ञा है। अब आगे अपनी अंतर-बाह्य स्थिति को प्रदर्शित करते हैं। आखिर में जो विषय चला उसमें (ऐसा कहा) कि हमें जो प्रवृत्ति उदय में है वह छोड़ी नहीं जा सके ऐसी है। दूसरे द्वार से छोड़कर भी निकल नहीं सकते ऐसी उदय प्रवृत्ति (का उदय) हमें वर्तता है।

दूसरे किसी पत्र में भी इस विषय में स्पष्टीकरण दिया है कि, हम शायद प्रवृत्ति छोड़ भी दे तो किसी के प्रति बड़ा अपराध होने की संभावना है। अतः हमारी प्रवृत्ति परानुकंपारूप है। वैसा स्पष्टीकरण दिया है, और वह जो उनके अलौकिक ज्ञान में संमत हुआ वह योग्य ही है। इसलिए (योग्य है क्योंकि) ज्ञानीपुरुष को अपनी प्रवृत्ति संबंधित उदय का ज्ञान - यथार्थज्ञान - सम्यक्ज्ञान वर्तता है। अपने पुरुषार्थ का भी सम्यक्ज्ञान वर्तता है। खुद के परिणाम की शक्ति का भी सम्यक्ज्ञान वर्तता है। इन सबको लक्ष्य में लेकर उनका निर्धार होता है। वह निर्धार आत्मदशा को अनुकूल होने के लिए, आत्मदशा की वृद्धि हेतु योग्य ही होता है।

क्योंकि उदय का अनुसरण करते हुए भी '....अव्याबाध स्थिति

में जैसा का तैसा स्वास्थ्य है। (अर्थात्) उदय का अनुसरण करते हुए अपने परिणाम में उदयभाव के कारण अंतर में जो अव्याबाध स्वरूपस्थ दशा है उसको बाधा नहीं पहुँचती है, बाधा नहीं आती है। और भीतर में अपना स्वास्थ्य भी जैसा का तैसा ही रहा है, उसका स्पष्ट उल्लेख है। अतः ऐसे स्वास्थ्य में किसी प्रकार की क्षति या बाधा नहीं आती है। कोई भी गुणस्थान हो चाहे, उसका यह नियम है कि उस गुणस्थान का अनुसरण करते हुए मर्यादा में उत्पन्न हुए बाह्य परिणाम, प्रवृत्ति के परिणाम, शुभा-शुभ भाव - दोनों प्रकार के होते हैं, परंतु वे उस दशा को हानि नहीं पहुँचा सकते। अरे ! और तो और धर्मात्मा की मोक्षमार्ग की अंतरंगदशा इतनी बलवान होती है कि उस बलवानदशा के कारण उदयभावों को हानि पहुँचती है। वे क्रमशः घटते जाते हैं, मिटते जाते हैं और अंततः संपूर्णरूप से स्वरूप लीनता के वक्त उनका नाश होता है।

अब, अंतिम पोस्टकार्ड लिख रहे हैं। 'आज यह आठवाँ पत्र लिखते हैं।' सात पोस्टकार्ड धारावाहीरूप से लिख चुके हैं। एक प्रश्न यहाँ उठ सकता है कि आठ-आठ पोस्टकार्ड लिखने के बजाय एक कवर (बड़ा कागज) लिख देते तो ? उन दिनों एक पैसे में पोस्टकार्ड लिखा जाता था - Quarter anna, जब कि एक आना में कवर लिखा जाता होगा। अब यहाँ आठ पोस्टकार्ड को लेकर दो आना का खर्च हो गया ! चलो ! खर्च के साथ संबंध नहीं होगा किन्तु जब इतना लंबा-चौड़ा लिखना था तो आठ पोस्टकार्ड के बदले में एक कवर लिख देते तो वह सुविधायुक्त था। इसका मतलब क्या हुआ कि वास्तव में इतना लिखने का पूर्व आयोजन नहीं था। विषय को पूर्व आयोजित करके प्रतिपादन इस पत्र में

नहीं किया है। खुद ही कहेंगे इस अंतिम पोस्टकार्ड में।

शुद्धचित्त से की गई विज्ञप्ति के कारण, कृष्णादासभाई की शुद्ध अंतःकरणपूर्वक जो विज्ञप्ति थी उसके कारण पहले एक पोस्टकार्ड लिखा फिर भी उदयभाव चालू रहा तो दूसरा लिखा, उसवक्त तीसरा लिखने का अंदाज नहीं था, उदयभाव चालू रहा तो तीसरा लिखा ऐसा करते-करते, उदयभाव चालू रहते-रहते एक के बाद एक पोस्टकार्ड लिखते गये। उदयभाव कहाँ तक चलेगा इसका विकल्प भी नहीं किया। सहज उदय भाव चलता रहा तो लिख दिया। नहीं चलता तो पोस्टकार्ड अधूरा भी छूट सकता था। उनके उदयभाव की दशा भी इतनी सहज थी कि चलते हुए विकल्प को करना, ऐसा तो नहीं लेकिन मिटाना है वह बात भी नहीं थी।

फिर से ले, देखो ! यह ज्ञानदशा की सहजता है। वरना स्थूलरूप से ऐसा कहा जाता है कि ज्ञानी अपने पुरुषार्थ से उदयभाव का - शुभाशुभ भाव का छेद करते-करते मोक्षमार्ग में आगे बढ़ रहे हैं। एक न्याय से ऐसा कहा जाता है फिर भी वास्तविकता तो ऐसी है कि ज्ञानी को उदयभाव जब करना नहीं है तो मिटाना भी नहीं है। अपने सन्मार्ग में - सत् के मार्ग पर सहजरूप से आगे बढ़ते जाते हैं। उदयभाव स्वतंत्ररूप से गुणस्थान की मर्यादा में रहकर सहज होता है, सहज समाप्त होता है। उत्पन्न भी सहज ही होता है, समाप्त भी सहज ही होता है। ऐसी सहजता के दर्शन, सहजदशा के दर्शन यहाँ होते हैं।

‘आज यह आठवाँ पत्र लिखते हैं। वे सब आप सभी जिज्ञासुभाइयों के वारंवार विचार करने के लिए लिखे गये हैं।’ ये जो आठ पोस्टकार्ड लिखे - वे सभी आप मुमुक्षु - जिज्ञासुभाइयों के विचार हेतु लिखे गये हैं। एक बार पढ़कर छोड़ दिया, ऐसे नहीं। अंदर बहुत कुछ

भरा है। हमलोग ने भी जो स्वाध्याय किया वह थोड़ा संक्षेप में किया है। विस्तार से करे तो और भी ज्यादा समय लगे इतना इसमें भरा है।

‘चित्त ऐसे उदयवाला कभी हो रहता है।’ कभी-कभी ऐसे उदयवाला चित्त हो तब लिखने में आ गया तो सहज लिखना हो गया। वरना कई दिनों तक किसी को पत्र की पहुँच भी नहीं लिख पाते हैं, ऐसी सहजदशा भी रहती है। परंतु **‘चित्त ऐसे उदयवाला कभी हो रहता है।’** उसमें भी चित्त वर्तता है, आत्मा (यानी कि) में इसमें नहीं वर्तता। उदयभाव में आते तक नहीं, देखो ! भीतर में भेदज्ञान की परिणति चलती है और उस भेदज्ञान में उदय से भिन्न होकर आत्मा - आत्मा में वर्तता है, आत्मा - आत्मा में रमता है। उदयभाव में जो उपयोग गया उसे यहाँ ‘चित्त’ कहते हैं। वह वास्तव में उदयभाव है। ऐसा कभी हो रहता है। कभी-कभी ऐसे उदयवाला भी हो रहता है। इसके साथ हमारा कोई संबंध नहीं है। (ऐसी) भिन्नता हो गई है। **‘आज अनुक्रम से वैसा उदय होने से, उस उदय के अनुसार लिखा है।’** अनुक्रम से उदय चला तो एक पोस्टकार्ड लिखा... दूसरा पोस्टकार्ड लिखा... तीसरा लिखा... ऐसा करते-करते आठ पोस्टकार्ड तक लिखते गये तो लिखते ही गये !

‘हम सत्संग और निवृत्ति की कामना रखते हैं,...’ ऐसी ज्ञानदशा होने के बावजूद भी या ऐसी महान ज्ञानदशा होने पर भी सत्संग की और प्रवृत्ति छोड़कर निवृत्ति में रहने की हमारी इच्छा रहती है, कामना रहती है। प्रवृत्ति में हमें बिलकुल रस नहीं है और एकांत ही चाहते होने पर भी सत्संग को चाहते हैं !! **‘तो फिर आप सबको यह रखनी योग्य हो,...’** सत्संग और निवृत्ति की कामना

आप सबको रखनी चाहिए। 'इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।' आप लोगों को तो विशेषरूप से यह कामना रहनी चाहिए। और यह उपदेश प्रत्येक मुमुक्षु को - हम सबको भी ग्रहण करने योग्य है।

'हम व्यवहार में रहते हुए अल्पारंभ को, अल्पपरिग्रह को प्रारब्धनिवृत्तिरूप से चाहते हैं,...' हमारी जो इच्छा है वह अल्पारंभ और अल्पपरिग्रह की है। पूर्व प्रारब्ध के कारण व्यवसाय चाहे कितना भी फैल चुका हो या फैलता रहता हो परंतु हमारी इसमें बिलकुल इच्छा नहीं है। व्यवहार में बैठे हैं और तथारूप प्रारब्ध की निवृत्ति हेतु अल्पारंभ और अल्पपरिग्रह की भावना करते-करते प्रारब्ध की निवृत्ति कर रहे हैं। '..महान आरंभ और महान परिग्रह में नहीं पड़ते।' या आरंभ - परिग्रह बढ़ जाये ऐसा हम कुछ नहीं करते हैं। प्रारब्धयोग से हो जाता है। या होना यह दूसरी बात है, परंतु हम इसमें नहीं पड़ते। 'तो फिर आपको वैसा बर्ताव करना योग्य हो, इसमें कोई संशय करना योग्य नहीं है।' मुमुक्षु को तो अल्पारंभ और अल्पपरिग्रह में रहना चाहिए, तब ही वह अपनी मुमुक्षुता में स्थिर रह सकेगा, सँभल पाएगा, उसे वृद्धिगत् कर पाएगा। वरना मुमुक्षु की योग्यता कब गायब हो जाएगी, कहना मुशकिल है।

'समागम होने के योग का नियमित समय लिखा जा सके ऐसा अभी नहीं सूझता।' समागम में आने का कोई निश्चित दिन या समय लिख सके ऐसी परिस्थिति नहीं है। '...नहीं सूझता।' (ऐसा लिखा है) सूझता नहीं मतलब सहज भीतर से कोई निर्णय नहीं हुआ है कि कब समागम में आ पायेंगे। जब नहीं सूझ रहा है तो लिख दिया कि 'नहीं सूझता।' सूझता है तब लिखते हैं कि 'सूझता है।' एक-एक वचन में सरलता और सहजता के दर्शन होते हैं !! जैसे परिणाम हुए ऐसे कलम चली है। कब मिलना

होगा यह नहीं सूझता है, नहीं दिखता है तो 'नहीं दिखता है' ऐसा लिख देते हैं ! अंदाज आये तो अंदाज के हिसाब से लिख देते हैं। नहीं आता तो नहीं लिखते। बस ! इतनी पारदर्शक सरलता है !! यहाँ पत्र समाप्त होता है।



अहो ! सत्पुरुषके हृदयका गांभीर्य ! मान-अपमानकी बुद्धि नहीं होने पर भी, अपना आत्मा बाह्य माहत्म्यको नहीं भजने लगे, इसके लिए जो अत्यंत जागृत हैं, (और) अन्य महात्माओंके प्रति और पात्रतावान उत्कृष्ट मुमुक्षुके प्रति वे सहज बहुमानपूर्वक विनम्रतापूर्ण व्यवहारसे प्रवर्तते हैं। दृष्टि सम्यक् होनेसे जिन्हें महा विवेक प्रगट हुआ है। धर्म प्रभावना करते हुए, मुमुक्षुओंको 'आश्रयमार्ग' का बोध देते हुए भी, प्राप्त महत्त्वसे जो अंतरसे निस्पृह रहते हैं, फिर भी अंतेवासी सुपात्र जीवकी भक्ति-भावनाका केवल निष्कारण करुणासे अनुमोदन करते हैं, स्वदोषको भी प्रगट करके जो आपसमें ऐक्यताको वृद्धिगत करते हैं, ऐसी स्व-पर कल्याणक विचक्षणताके धारक धर्मात्माके प्रति हृदय नत्मस्तक हो जाता है। वास्तवमें वे आश्चर्यकी प्रतिमा ही है। जितना - जितना उनके सम्यक् चरणके समीप जाना होता है, हृदय वारंवार बहुमानसे पुकार उठता है - अहो...! अहो...!

(पूज्य भाईश्री - अनुभव संजीवनी-१०५२)

बंबई, फागुन वदी ७, रवि, १९५१

सर्व विभावसे उदासीन और अत्यंत शुद्ध निज पर्यायका सहजरूपसे आत्मा सेवन करे, उसे श्री जिनेंद्रने तीव्रज्ञानदशा कही है। जिस दशाके आये बिना कोई भी जीव बंधनमुक्त नहीं होता, ऐसा सिद्धांत श्री जिनेंद्रने प्रतिपादित किया है, जो अखंड सत्य है।

किसी ही जीवसे इस गहन दशाका विचार हो सकना योग्य है, क्योंकि अनादिसे अत्यंत अज्ञानदशासे इस जीवने जो प्रवृत्ति की है, उस प्रवृत्तिको एकदम असत्य, असार समझकर उसकी निवृत्ति सूझे ऐसा होना बहुत कठिन है; इसलिये जिनेंद्रने ज्ञानीपुरुषका आश्रय करनेरूप भक्तिमार्गका निरूपण किया है, कि जिस मार्ग के आराधनसे सुलभतासे ज्ञानदशा उत्पन्न होती है।

ज्ञानीपुरुषके चरणमें मनको स्थापित किये बिना यह भक्तिमार्ग सिद्ध नहीं होता, जिससे जिनागममें पुनः पुनः ज्ञानीकी आज्ञाका आराधन करनेका स्थान स्थानपर कथन किया है। ज्ञानीपुरुषके चरणमें मनका स्थापित होना पहिले तो कठिन पड़ता है, परंतु वचनकी अपूर्वतासे, उस वचनका विचार करनेसे तथा ज्ञानीको अपूर्व दृष्टिसे देखनेसे मनका स्थापित होना सुलभ होता है।

ज्ञानीपुरुषके आश्रयमें विरोध करनेवाले पंच विषयादि दोष हैं। उन दोषोंके होनेके साधनोंसे यथाशक्ति दूर रहना,

और प्राप्तसाधनमें भी उदासीनता रखना, अथवा उन उन साधनोंमें से अहंबुद्धिको दूरकर, उन्हें रोगरूप समझकर प्रवृत्ति करना योग्य है। अनादि दोषका ऐसे प्रसंगमें विशेष उदय होता है। क्योंकि आत्मा उस दोषको नष्ट करनेके लिये अपने सन्मुख लाता है कि वह स्वरूपान्तर करके उसे आकर्षित करता है, और जागृतिमें शिथिल करके अपनेमें एकाग्र बुद्धि करा देता है। वह एकाग्र बुद्धि इस प्रकारकी होती है कि, 'मुझे इस प्रवृत्तिसे वैसी विशेष बाधा नहीं होगी, मैं अनुक्रमसे उसे छोड़ूँगा, और करते हुए जागृत रहूँगा'; इत्यादि भ्रांतदशा उन दोषोंसे होती है; जिससे जीव उन दोषोंका संबंध नहीं छोड़ता, अथवा वे दोष बढ़ते हैं, उसका ध्यान उसे नहीं आ सकता।

इस विरोधी साधनका दो प्रकारसे त्याग हो सकता है - एक, उस साधनके प्रसंगकी निवृत्ति, दूसरा, विचारपूर्वक उसकी तुच्छता समझना।

विचारपूर्वक तुच्छता समझनेके लिये प्रथम उस पंचविषयादिके साधनकी निवृत्ति करना अधिक योग्य है, क्योंकि उससे विचारका अवकाश प्राप्त होता है।

उस पंचविषयादिके साधनकी सर्वथा निवृत्ति करनेके लिये जीवका बल न चलता हो, तब क्रम-क्रमसे, अंश-अंशसे उसका त्याग करना योग्य है; परिग्रह तथा भोगोपभोगके पदार्थोंका अल्प परिचय करना योग्य है। ऐसा करनेसे अनुक्रमसे वह दोष मंद पड़ता है और आश्रयभक्ति दृढ़ होती है तथा ज्ञानीके वचन आत्मामें

परिणमित होकर, तीव्रज्ञानदशा प्रगट होकर जीवन्मुक्त हो जाता है।

जीव क्वचित् ऐसी बातका विचार करे, इससे अनादि अभ्यासका बल घटना कठिन है परंतु दिन-प्रतिदिन, प्रसंग-प्रसंगमें और प्रवृत्ति-प्रवृत्तिमें पुनः पुनः विचार करे, तो अनादि अभ्यासका बल घटकर अपूर्व अभ्यासकी सिद्धि होकर सुलभ ऐसा आश्रयभक्तिमार्ग सिद्ध होता है। यही विनती।

आ. स्व. प्रणाम।

प्रवचन - ११ दि. ३०-११-१९९० - पत्रांक-५७२ (१)

(श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत) पत्र - ५७२। यह पत्र अंबालालभाई पर है। यह पत्र भी बहुत अच्छा है। प्रथम पैराग्राफ में ज्ञानदशा - ज्ञानी की दशा कि बात की है। दूसरे पैराग्राफ में मुमुक्षु की पात्रता का उल्लेख किया है।

‘सर्व विभाव से उदासीन और अत्यंत शुद्ध निज पर्याय का सहजरूप से आत्मा सेवन करे, उसे श्री जिनेन्द्र ने तीव्र ज्ञानदशा कही है।’ ज्ञानदशा में भी तीव्र ज्ञानदशा की यह परिभाषा है। सर्व विभाव से उदासीन होकर व अत्यंत शुद्ध निज पर्याय का आत्मा सेवन करे (माने) सहज-सहज ही विकल्प से हटकर निर्विकल्पदशा

में आना, यह बात है। शुद्धोपयोग में - तीव्र ज्ञानदशा में आये तब ऐसी सहज पर्याय सहजरूप से आती है। कोई कृत्रिमता तो हो नहीं सकती। विकल्प से तो वह बात नहीं बनती। **'...उसे श्री जिनेन्द्र ने तीव्र ज्ञानदशा कही है।'** खास करके - विशेषरूप से देखा जाय तो श्रेणी के वक्त अंतरंग में मुनिराज को यह दशा उत्पन्न होती है। सहजरूप से अत्यंत निज पर्याय का सेवन करे... इससे फिर शुक्ल ध्यान की श्रेणी का प्रारंभ होता है। धर्मध्यान से आगे बढ़कर शुक्लध्यान की श्रेणी में आते हैं। तब वे तीव्र ज्ञानदशा में आते हैं।

'जिस दशा के आये बिना कोई भी जीव बंधनमुक्त नहीं होता,...' ऐसी दशा हुए बिना किसी जीव की मुक्ति हो, बंधन से छूट जाय, ऐसा नहीं बनता। **'ऐसा सिद्धांत श्री जिनेन्द्र ने प्रतिपादित किया है, जो अखंड सत्य है।'** यानी इसमें उन सारी बातों का निषेध कर दिया कि, जैसे नाचते-नाचते केवलज्ञान पा लिया या किसी ने सब्जी काटते-काटते केवलज्ञान पा लिया या किसी का विचार बदल गया और केवलज्ञान को प्राप्त हो गये, यह कोई बात इसमें सुसंगत नहीं है। जब आत्मा अत्यंत शुद्ध निज पर्याय का सेवन करे (यानी कि) एकदम तीव्र एकाग्रता हो, अत्यंत एकाग्रता हो उसवक्त अशुद्धि की निर्जरा, इसके अनुपात में सर्व द्रव्यकर्मा की भी निर्जरा होती है, इसके बिना बंधन से मुक्ति नहीं होती। **'ऐसा सिद्धांत श्री जिनेन्द्र ने प्रतिपादित किया है, जो अखंड सत्य है।'** इसमें कोई शंका की गुंजाईश नहीं है। मुक्त होने के लिए शुक्लध्यान की श्रेणी की बात इसमें किस तरह आ गई देखो ! और इसके लिए बाहर में औपाधिकदशा का अभाव होता है, (अर्थात्) सर्व विभावदशा से उदासीनता होती है। कुछ विभाव को छोड़कर, ऐसी

बात नहीं है। सर्व विभावदशा (आ गई)। किसी भी विभाव का स्थान नहीं है। वह वास्तव में मुक्ति का साक्षात् कारण है। यह सैद्धांतिक बात है। इसका मतलब तीनों काल अफर है। और अखंड सत्य है मतलब किसी भी काल में खंडित नहीं हो सकता। जैसे पंचम आरा में ऐसा होता है, दूसरे काल में ऐसा होता है, दूसरे क्षेत्र में ऐसा होता है - ऐसी कोई बात नहीं रहती। **'...अखण्ड सत्य है।'** ऐसा ले लिया है। सैद्धांतिक प्रतिपादन करके उन्होंने अखण्ड सिद्धांत लिया है कि यह सिद्धांत किसी भी काल में, किसी भी क्षेत्र में खंडित नहीं होता। समझना चाहे जब तो सब बातें इसमें हैं, भले ही श्वेतांबर - दिगंबर का नाम देकर बात नहीं की हो, परंतु जो मोक्षमार्ग - मूलमार्ग है वह इसप्रकार से है, इतना ही नहीं तीनों काल अखण्ड मोक्षमार्ग ऐसा ही होता है, यह बात तो उन्होंने दृढ़तापूर्वक स्थापित की है। और इस विषय में कहीं भी उन्होंने ढीली-ढीली बात नहीं की, एकदम स्पष्ट अभिप्राय दिया है।

अब, (दूसरे पैराग्राफ में) पात्रता की बात करते हैं। **'किसी ही जीव से इस गहन दशा का विचार हो सकना योग्य है,...**' ऐसी जो दशा, जिसे तीव्र ज्ञानदशा कही, वह बहुत गहन दशा है। यानी कि ज्ञानी की दशा है, उस दशा का विषय इतना स्थूल नहीं है। हमारी चर्चा में यही विषय चलता है। ज्ञानी की दशा का विषय कोई इतना स्थूल नहीं है।

स्वयं तो ऐसा कहते हैं, श्रीमदजी स्वयं तो ऐसा कहते हैं कि अगर जीव ज्ञानी की दशा को समझ सके, पहचान सके... अरे! एक दफा भी पहचान ले तो अधिक से अधिक पंद्रहवें भव में पात्र होकर मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। उसको मुक्ति दूर नहीं रहती।

यह बात उन्होंने ली है। पीछे तीसवें वर्ष में यह बात चली है।

(यहाँ कहते हैं कि) 'किसी ही जीव से इस गहन दशा का विचार हो सकना योग्य है, क्योंकि अनादि से अत्यंत अज्ञानदशा से इस जीव ने जो प्रवृत्ति की है, उस प्रवृत्ति को एकदम असत्य, असार समझकर उसकी निवृत्ति सूझे ऐसा होना बहुत कठिन है;...' क्या कहते हैं ? कि अनादि से इस जीव की अत्यंत अज्ञानदशा रही है। अत्यंत अज्ञानदशा में इस जीव ने बहुत प्रवृत्ति की है। वह प्रगाढ़ हो चुका है। अब, वह प्रवृत्ति बिलकुल झूठी है, व्यर्थ है, असार मतलब ? झूठी है, व्यर्थ है इसलिए उसे छोड़ देना चाहिए, ऐसी निवृत्ति सूझे या उसे मिटाने योग्य है ऐसा सूझना जीव के लिए बहुत कठिन है।

यानी क्या कहते हैं ? कि, जीव वास्तव में अपनी जो अज्ञानदशारूप विपरीत प्रवृत्ति है उसे एकदम नहीं छोड़ सकता। धर्म के क्षेत्र में आता है लेकिन अपना विपर्यास नहीं छोड़ सकता है। यह सब असत्य, असार है और छोड़ने लायक है ऐसा इसकी समझ में आना बहुत मुश्किल है। वह बात बहुत कठिन है।

'इसलिए जिनेन्द्र ने ज्ञानीपुरुष का आश्रय करनेरूप भक्तिमार्ग का निरूपण किया है,...' इसलिए प्रत्यक्ष ज्ञानी के चरणों में बैठ जाने की बात ज्ञानियों ने व शास्त्रों ने जगह-जगह की है। इसका कारण यही है कि खुद रोगी है। और खुद का रोग कैसे मिटाना यह नहीं जानता। एक 'सद्गुरु वैद्य सुजाण' (अर्थात्) जो आत्मज्ञानी सत्पुरुष हैं उन्होंने वह रोग मिटाया है, वे मिटाना जानते हैं। इसलिए उनसे यह रोग मिटाने के बारे में पथ्या-पथ्य इत्यादि समझना होगा और दवाई आदि समझनी होगी। इसके अलावा दूसरा कोई उपाय नहीं है।

वह बहुत कठिन है (मतलब) विपरीतता छोड़ना बहुत कठिन होने से ज्ञानीपुरुष का आश्रय करने रूप भक्तिमार्ग श्री जिन ने निरूपित किया है। ज्ञानीपुरुष का आश्रय का अर्थ क्षेत्र से समीप रहना - ऐसा नहीं (परंतु) अत्यंत भक्ति से - परम भक्ति से समागम में जाना उसे आश्रय कहते हैं। तब उसे आश्रय किया, ऐसा कहा जाता है। शिरछत्र नहीं रखते ? वैसे (ज्ञानीपुरुष को) माथे पर (शिरसावंध) रखा है।

'बहिनश्री के वचनामृत' में आता है कि श्रीगुरु के आश्रय में रहना। श्रीगुरु की आज्ञा में रहना वरना कहाँ तेरी भूल हो जाएगी उसका तुझे पता नहीं चलेगा। आश्रय में रहेगा तो वे कहेंगे कि, ऐसे नहीं करते परंतु ऐसे किया जाता है, यह उचित नहीं है - यह उचित है।

यहाँ भक्तिमार्ग का मतलब यह जो पद गाते हैं, यह बात नहीं है। ज्ञानीपुरुष का आश्रय करने को कहा है। यानी कि पद गाने की बात नहीं करते। हररोज़ घंटे - दो घंटे - चार घंटे आप भक्ति के पद गाना - ऐसी बात यहाँ नहीं है। ऐसे भक्तिमार्ग की बात यहाँ नहीं की। वह तो क्या है परंपरा में गड़बड़ हो गई !

यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि प्रत्यक्ष ज्ञानी विद्यमान हो तो परमेश्वरबुद्धि से इनका सत्समागम करना चाहिए। जो उन्होंने २५४ (पत्र में) कहा है। 'सत्पुरुष में परमेश्वरबुद्धि उसे मुमुक्षु का परमधर्म कहा गया है।'

मुमुक्षु :- परमेश्वरबुद्धि माने क्या ?

पूज्य भाईश्री :- परमेश्वरबुद्धि मतलब उनके प्रति परमेश्वर तुल्य बहुमान आना। तीर्थकर में जैसा बहुमान आये ऐसा बहुमान उसे चतुर्थ गुणस्थानवर्ती ज्ञानीपुरुष में आये !! और सोगानीजी को आया

(भी) है !! सोगानीजी की दशा थोड़ी तीव्र थी तो भक्ति भी तीव्र मात्रा में आयी है। 'गुरुदेव तो मेरे लिए अनंत तीर्थकरों से भी अधिक हैं।' तीर्थकर से भी ज्यादा भक्ति की है ! तीर्थकर जितनी तो नहीं परंतु इससे भी आगे गये हैं ! उन्होंने तो Overbound - मर्यादा छोड़कर जैसे गये हो ऐसी बात की है !! और यह वस्तु स्वाभाविक है !! दृष्टिप्रधानता में भी इतनी तीखी बातों की हैं और भक्ति प्रधानता में भी ऐसी ही तीखी बातें उन्होंने की हैं। दोनों बातें ऐसी की हैं।

मुमुक्षु :- आश्रय करना मतलब माथे पर रखना !

पूज्य भाईश्री :- आश्रय में रहना - माथे पर रखना इसका अर्थ है पूरी-पूरी सर्वार्पणबुद्धि से उनके समागम की - सत्समागम की उपासना करना। सर्वार्पणबुद्धि से - परमेश्वरबुद्धि से (उपासना करना)। २२३ (पत्र के अनुसार) कहें तो यह कोई दिव्यमूर्ति - परमात्मा दिव्यमूर्ति ने देहधारीरूप में मेरे लिए जन्म लिया है !! ऐसा उसको लगना चाहिए। यह २२३ वाँ पत्र है। उन्होंने संकेत तो सब तरह के किये हैं - सभी प्रकार के संकेत किये हैं।

(अब कहते हैं) '**...कि जिस मार्ग के आराधन से सुलभता से ज्ञानदशा उत्पन्न होती है।**' इस तरह यदि कोई जीव सत्पुरुष के समागम में जाये तो उसको ज्ञानदशा उत्पन्न होने की परिस्थिति बहुत सुलभ है। अर्थात् उसको बोधिदुर्लभता नहीं रहती, सुलभबोधिपना सहज-सहज उत्पन्न हो जाता है। क्योंकि दर्शनमोह का जिन्होंने अभाव किया है, उनके बहुमान वश खुद के दर्शनमोह में मंदता सहज-सहज, आसानी से उत्पन्न हो जाती है। इस हेतु से उन्होंने इस बात का उल्लेख अनेक पत्रों में मुमुक्षुओं को किया है। यहाँ तक रखते हैं।



प्रवचन - १२ दि. १-२-१९९० - पत्रांक-५७२ (२)

(श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत - पत्रांक - ५७२ चलता है)। तीव्र ज्ञानदशा जीव को मुक्ति का कारण है या अत्यंत शुद्ध पर्याय है वह मुक्तदशा ही है। और सर्व भाव से (विभाव से) उदासीनतापूर्ण जो दशा उत्पन्न होती है, ऐसी ज्ञानदशा आने के पहले किसी भी जीव की बंधन से मुक्ति नहीं होती। वह जीव बंधन में है। भावबंधन में - रागादि भावबंधन है। और द्रव्यबंधन में - पुद्गलकर्म का बंधन है। इससे मुक्त होने के लिए अपनी सहजात्मदशा अत्यंत शुद्ध हुए बिना इस बंधन का अभाव नहीं होगा। **‘ऐसा सिद्धांत श्री जिनेन्द्र ने प्रतिपादित किया है, जो अखण्ड सत्य है।’** तीनों काल में किसी भी जीव के लिए, किसी भी क्षेत्र के जीव के लिए यही परिस्थिति है। बंधन से मुक्त होने की दूसरी कोई व्यवस्था नहीं है। अत्यंत शुद्ध दशा हुए बिना या स्वरूप में अत्यंत एकाग्रता हुए बिना बंधन से मुक्ति नहीं हो सकता।

‘किसी ही जीव से इस गहन दशा का विचार हो सकना योग्य है,...’ उस दशा को यहाँ **‘गहन दशा’** कही है। जो दशा - जिसमें (आत्मा) अपने अंतर में ही स्थिर होता है, ऐसी दशा है। इस दशा की योजना कैसी है ? इस दशा में किस प्रकार की कार्यपद्धति है ? यह विषय काफ़ी गहन है। और इसका विचार भी **‘किसी ही जीव से’** यानी कि पात्र जीव से हो सकता है। इसका विचार

होने के लिए भी निर्मलता व पात्रता की आवश्यकता है। कोई अधिक बुद्धिवान हो इसलिए उसका विचार कर सके, ऐसा नहीं है। परंतु निर्मलता होगी तो इसका विचार हो सकेगा। विचार की मलिनता और विचार की निर्मलता - बस ! इतना ही यहाँ लेना है।

मुमुक्षु :- समुद्र गहन है जैसे ज्ञानी की दशा गहन है ?

पूज्य भाईश्री :- हाँ, ज्ञानी की दशा तो इससे भी (अधिक) गहन है। क्योंकि (समुद्र) तो रूपी है जब कि यह (ज्ञानदशा) अरूपी है।

पुनः जो दशा स्वयं अंतर्मुख होती है, (इसमें) मुख बदलना माने क्या ? अंतर्मुख होना माने क्या ? यह विषय अनादि से गूढ़ रहस्यरूप (रहा है)। अध्यात्म का (यह) एक गूढ़ रहस्य है। जो कि हमेशा ज्ञानियों के हृदय में रहा है। उसका विचार मतलब कुछ इसकी झाँकी, विचार में तो इसकी कुछ अंश में झाँकी आती है। क्योंकि वह तो विचारातीत दशा है, विकल्पातीत दशा है। किसी पात्र जीव को अर्थात् किसी निर्मल विचारवाले जीव से इसका विचार हो सकता है। मलिन विचारवान चाहे कितना भी क्षयोपशम का धारक हो, फिर भी उसे इसका विचार तक आये, ऐसी परिस्थिति नहीं है। अनुभव प्राप्त करना, उस दशा तक पहुँचना इसकी तो बात ही कुछ और है, लेकिन इसका विचार होने के लिए भी योग्यता चाहिए।

मुमुक्षु :- जैसे समुद्र के तलवे में रत्न पड़ा हो तो उसे ऐसा (शक्तिवान) ही निकाल सकता है।

पूज्य भाईश्री :- यह तो सीधी-सी बात है।

मुमुक्षु :- ठीक जैसे ज्ञानी की पहचान होने के लिए तथारूप योग्यता चाहिए।

पूज्य भाईश्री :- ज्ञानी को पहचानना यह कोई आसान बात नहीं है। अनंतकाल में पहचान नहीं हो पायी है और अगर एक बार भी हो जाये तो छुटकारा हो जाये। यही बात ले रहे हैं। इसी बात पर तो ले जाना चाहते हैं। इसलिए यहाँ से प्रारंभ किया कि, मुमुक्षुजीव का क्या कर्तव्य है ? इस विषय में उसको आगे बढ़ना हो तो कैसे आगे बढ़ना ? यही बात वे करना चाहते हैं कि अंतर्मुख होने के लिए क्या करना ?

(ऐसी गहन दशा का) विचार नहीं होने के पीछे कारण ऐसा है कि अनादि से अत्यंत अज्ञानदशा में इस जीव ने प्रवृत्ति की है। विरुद्ध प्रवृत्ति ही की है। अपने स्वभाव से विरुद्ध जाने की - उसी प्रकार की प्रवृत्ति की है। स्वभाव सन्मुख होने की प्रवृत्ति नहीं की। और (ऐसी प्रवृत्ति) अत्यंत की है - अज्ञानमय प्रवृत्ति अत्यंत की है।

मुमुक्षु : ये व्रत, जप, तप, उपवास अनंतकाल में जितने भी किये सब विपरीत ?

पूज्य भाईश्री : वह सब विरुद्ध जाति का ही किया है। पुद्गल की क्रिया को अपनी मानकर - जड़ की क्रिया को अपनी मानकर, शरीर की क्रिया पर अधिकार रखकर अहंभाव किया है। वास्तव में तो व्रत, तप, जप किये ही नहीं ! वास्तविकता का विचार किया जाये तो व्रत, तप, जप वास्तव में तो कुछ किया ही नहीं। वह तो सिर्फ नाम दिया है, लौकिक नाम है। ज्ञानियों उसे व्रत, तप, जप के रूप में संमत नहीं करते। उसने कुछ किया ही नहीं है, ऐसा ही कहते हैं।

‘क्योंकि अनादि से अत्यंत अज्ञानदशा से इस जीव ने जो प्रवृत्ति की है,...’ उसे यह प्रवृत्ति एकदम असत्य कैसे मालूम होगी ?

यह प्रवृत्ति गलत है, भूल सहित है, अभी तक मैं भूल करता आया हूँ, यह इसकी समझ में आयेगा जब तो वह वहाँ से पीछे हटेगा, वरना इसका मूल्य इसने कर रखा है। इतने शास्त्र मैंने पढ़े हैं, इतना मुझे ज्ञान है, इतना मैं समझता हूँ और इतनी क्रिया भी मैं करता हूँ, इत्यादि... इत्यादि। ये (सब) एकदम असत्य (समझ में आये)। कितना ? थोड़ा-बहुत नहीं। **‘....एकदम असत्य...’** (ऐसा कहा है)। क्या ? अभी तक जो भी किया वह सब गलत ही गलत किया, बिना समझे किया है, नासमझी से किया है।

मुमुक्षु : ज्ञानी की आज्ञा से नहीं किया।

पूज्य भाईश्री : ज्ञानी की आज्ञा अनुसार नहीं किया (और) यथार्थ नहीं किया। ज्ञानी की आज्ञा अनुसार तो नहीं किया (अपितु) लोकसंज्ञा से किया है। प्रायः तो जीव ने लोकसंज्ञा से किया है या लोकदृष्टि से किया है। लोगों के अभिप्राय के अनुसार किया है। ज्ञानी के अभिप्राय का अनुसरण करके कुछ नहीं किया। ऐसी पूर्व में की हुई प्रवृत्ति एकदम असत्य थी, ऐसा उसकी समझ में आये। **‘...असार समझकर...’** मतलब इसमें कुछ दम नहीं था - व्यर्थ थी। असार मतलब व्यर्थ - सार रहित वह प्रवृत्ति थी।

ऐसा समझकर **‘उसकी निवृत्ति सूझे, ऐसा होना बहुत कठिन है;...’** जीव को खुद को पीछे हटना, अपने अभिप्राय से पीछे हटना यह बहुत कठिन है। सब न्योछावर कर देगा परंतु अपनी मानी हुई बात को छोड़ नहीं सकेगा - निश्चित की हुई बात को छोड़ नहीं सकेगा। यह एक जीव की बहुत बड़ी विपत्ति कहो या चाहे एक असमंजसपूर्ण परिस्थिति कहो, जिसमें से जीव निकल नहीं सकता है। यह बड़ी मुसीबत है। जीव को अपने अभिप्रायमें से पीछे हटना, यह बड़ी मुसीबत हो पड़ी है।

मुमुक्षु :- इसे छोड़ने के लिए क्या करना ?

पूज्य भाईश्री :- वह अब कहेंगे कि ज्ञानीपुरुष का आश्रय लेना। अपने आप तुझ से नहीं छूटेगा। तू अपने आप छोड़ने जाएगा तो कढ़ाई से गिरकर चुल्हे में पड़ेगा।

मुमुक्षु :- यह शास्त्र प्रकाशन करते हैं, और भी जो कुछ करते हैं वह भी क्या लोगों के अभिप्राय से करते हैं ?

पूज्य भाईश्री :- जाँच कर लेना। अपने परिणाम को देख लेना कि यह जीव किस (अभिप्राय) से काम कर रहा है ? जाँच करने पर तुरंत उसे पता चलेगा। आत्महितार्थ - आत्मार्थ हेतु अपने परिणाम का अवलोकन करे कि, मेरा अहित हो रहा है या हित हो रहा है ? यह मुझे जाँच कर लेनी चाहिए वरना मैं मानता रहूँगा कुछ और लेकिन होता होगा कुछ और !! ऐसी परिस्थिति होगी।

मुमुक्षु :- जिस दिन यह विचार आया था, उसमें लोगों ने तो कोई सलाह नहीं दी थी। अपने खुद के विचार से ही बात उत्पन्न हुई थी। फिर भी लोगों के अभिप्राय से यह कर रहे हैं, ऐसा कैसे माने ?

पूज्य भाईश्री :- लोगों के अभिप्राय से (नहीं करते हैं) तो इसके पीछे क्या अभिप्राय था ? क्या लक्ष्य था ? यह जाँच कर लेना ! ठीक है ? कुछ तो होगा ही ! या फिर शून्य था ? कुछ तो होगा न ? जाँच कर लेना ! यदि इसके पीछे एकांत आत्महित के अलावा दूसरा कोई लक्ष्य नहीं है तो उत्तम बात है। अच्छा, इसके अलावा दूसरा कुछ भी हो तो वह सब एक ही जाति की गड़बड़ है। उस गड़बड़ में फिर कोई विकल्प एक प्रकार का होगा तो कोई दूसरे प्रकार का। इसमें कोई ज्यादा फ़र्क नहीं है। मेरे आत्मा के हित के लिए मैं कर रहा हूँ, आत्महित की

भावना विशेष आविर्भूत हो, इस हेतु से मैं करता हूँ। उस एक लक्ष्य से जो कुछ भी होगा वह ठीक है। (यदि) लक्ष्य में फ़र्क है यानी कि उसका ध्येय कुछ दूसरा है, लक्ष्य कोई दूसरा है, सच्चे ध्येय की शून्यता है, अभाव है, तो उसका फल भी विपरीत ही है। उसका फल विपरीत है।

मुमुक्षु :- विपरीत माने क्या ?

पूज्य भाईश्री :- विपरीत अर्थात् आत्मा के अनुकूल नहीं है। आत्मा का हित हो ऐसा उसका फल नहीं है। पुण्य होगा, पुण्य का फल भी आयेगा, यह सब संभवित है परंतु इससे कोई आत्मा का हित नहीं होता। उसमें वह ज्यादा अहित कर लेगा ! किसको पता क्या करेगा आगे !

‘...इसलिए जिनेन्द्र ने ज्ञानीपुरुष का आश्रय करनेरूप भक्तिमार्ग का निरूपण किया है,...’ यह जीव अनादि से भयंकर भवरोग में फँसा हुआ है। और इस रोगमें से मुक्त होने के लिए उसको ‘सद्गुरु वैद्य सुजाण’ (चाहिए)। आत्मज्ञानीपुरुष का आश्रय करना और इनकी आज्ञा में चलना। वह एक ही उसके लिए श्रेयरूप है। इसके अलावा दूसरी कोई बात उसके लिए श्रेयरूप नहीं है। ये इनके अनुभव पूर्ण वचन हैं।

खुद ने भी पूर्वभव में (आत्मज्ञान प्राप्ति हेतु) काफ़ी परिश्रम किया है, बहुत भटके हैं, बहुत प्रकार से जप, तप, शास्त्र वांचन (आदि) सब कर चुके हैं। हैरान होने में कोई कसर नहीं छोड़ी। फिर आगे किसी पूर्वभव में जब सत्पुरुष मिले हैं तब अपनी सारी मुश्किलों का अंत आया है, इसलिए उन्होंने इस बात का वारंवार निरूपण किया है।

‘...कि जिस मार्ग के आराधन से सुलभता से ज्ञानदशा उत्पन्न

होती है।' मुमुक्षु के लिए भी ज्ञानदशा सुलभता से उत्पन्न होने में अनुभवी पुरुषों के मार्गदर्शन का परम भक्ति से अनुसरण करना, यह एक ही सुगम से सुगम उपाय है। यहाँ तक हमारा स्वाध्याय चला था।

अब कहते हैं कि, 'ज्ञानीपुरुष के चरण में मन को स्थापित किये बिना यह भक्तिमार्ग सिद्ध नहीं होता,...' सिद्ध नहीं होता मतलब प्राप्त नहीं होता। यानी कि (अगर कोई ज्ञानी) विद्यमान हो, यद्यपि इस काल में तो ज्ञानी का होना भी मुश्किल है, मिलना मुश्किल है। लेकिन अगर विद्यमान हो तो भी उनके चरण में मन को स्थापित करना यह मुख्य बात है और तब उनका आश्रय मिलता है। उनके चरण में मन स्थापित किये बिना वह आश्रयमार्ग और भक्तिमार्ग प्राप्त नहीं होता है।

जीव क्या करता है ? कि, सामान्य बहुमान से वंदन, भक्ति, नमस्कार आदि करता है परंतु उन्हें पहचानकर जितने पैमाने में बहुमान आना चाहिए, इतने पैमाने में परमेश्वरबुद्धि से - सर्वार्पणबुद्धि से (जो प्रवर्तन होना चाहिए), वह प्रकार उत्पन्न नहीं होता। जिसको उन्होंने 'वंचनाबुद्धि' (कहा है)। ५२६ (पत्र में) उन्होंने इसको वंचनाबुद्धि कहा है क्योंकि खुद धोखे में रह जाता है। मैं तो (ज्ञानी) को मानता हूँ, मैं तो भक्ति करता हूँ, ऐसे (धोखे में रह जाता है)।

'...जिससे जिनागम में पुनः पुनः ज्ञानी की आज्ञा का आराधन करने का स्थान स्थानपर कथन किया है।' जिनागम में इसका मतलब है जिनेन्द्रदेव ने भी इस बात को पुनः-पुनः जगह-जगह दोहराई है। वह ऐसे कि, तू अनादि से बेखबर है। और तो और यह मार्ग भी कोई गहन मार्ग है। यूँ ही अपने आप पता लगाने जाओगे तो मेल नहीं खायेगा। अतः किसी ज्ञानीपुरुष के चरण में मन को

स्थापित करके, पूरा का पूरा भक्तिवंत होकर यदि कुछ करोगे तो हो सकेगा वरना होना मुश्किल है। इसप्रकार जिनागम में भी पुनः-पुनः अनेक जगह कथन किया है।

यद्यपि, 'ज्ञानीपुरुष के चरण में मन का स्थापित होना पहले तो कठिन पड़ता है,...' जीव शुरु में ही इतना भक्तिवंत नहीं हो सकता है, अत्यंत बहुमान उसे नहीं आता। अतः प्रथम (भूमिका में) यह बात उसे थोड़ी कठिन लगती है। क्योंकि बिलकुल अनजाना रास्ता है। और एकदम उसे वैसा प्रकार नहीं आता। लेकिन कब आये ? और किस प्रकार आये ? कि, '...वचन की अपूर्वता से,...' यह कोई अपूर्व वाणी - परमश्रुत (है) ! आत्मज्ञानी धर्मात्मा की वाणी कोई अपूर्व वाणी होती है ! अपूर्व वाणीरूप परमश्रुत उनके श्रीमुख से खिरता है, ऐसा जब खुद को लगता है तब और '...उस वचन का विचार करने से,...' विशेष विचार करने से। यानी कि आत्महितार्थ वह कितनी प्रयोजनभूत चीज़ है ! भले ही निमित्तरूप है फिर भी वह निमित्तत्व कैसा (मूल)रूप है !! इसका विशेष विचार करने से, '...उस वचन का विचार करने से तथा ज्ञानी को अपूर्व दृष्टि से देखने से...' यह एक विशिष्ट बात यहाँ पर की है।

वचन की अपूर्वता (लगना), वचन का विचार करना - ये दो बातें तो प्रचलित हैं। परंतु '...ज्ञानी को अपूर्व दृष्टि से देखने से मन का स्थापित होना सुलभ होता है।' यह अपूर्वदृष्टि क्या है ? कि जैसे पूर्व में मुझे ऐसा योग हुआ ही नहीं है !! सोगानीजी ने कहा न ? अनंत तीर्थकरों से अधिक ऐसा योग प्राप्त हुआ है ! अनंत तीर्थकर (कहा) !! एक तीर्थकर माने क्या ? जिसके केवलज्ञान के आगे आत्मज्ञानी चतुर्थ गुणस्थानवर्ती साधक की दशा - धर्मात्मा की दशा तो जघन्य है - अनंतवें भाग में है। फिर भी सीधा ऐसे

ही कहा कि ऐसे अनंत तीर्थकरों से ये (गुरुदेवश्री) मेरे लिए अधिक हैं !! 'मेरे लिए' ऐसा कहा है। ऐसे लिया है, सब के लिए यह बात - सिद्धांत स्थापित नहीं किया !! जिस-जिसको ऐसे दुष्काल में सत्पुरुष का योग होता है, इसके लिए बात है। कोई तौ काल में जहाँ संख्याबंध सम्यग्दृष्टि मौजूद हो, उसकी बात दूसरी है। बड़ी संख्या में मुनि हो, उसकी बात कोई और है। महाविदेह आदि क्षेत्र में अनेक केवली होते हैं, अनेक तीर्थकर होते हैं, तब की बात दूसरी है।

वर्तमान द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का अनुसरण करते हुए, इसमें भी अनंत काल से जिसका हित नहीं हुआ है ऐसे जीव को अभी क्या करना ? बात तो इसकी चलती है। राजा के वहाँ भले ही भंडार भरा हो, लेकिन यहाँ मुझे भूख लगी है और एक रोटी का टुकड़ा भी मिल नहीं रहा है ! वहाँ भले ही मिष्टान्न के भंडार भरे हो, लेकिन खुद को जब भूख लगी हो, और रोटी का टुकड़ा भी न मिलता हो या ऐसा कहे कि, नदी का लाखों टन पानी समुद्र में बह जाता हो किन्तु खुद जब प्यास के कारण मर रहा हो फिर भी मीठे पानी का एक गिलास भी न मिलता हो, तो तब उसकी कीमत कितनी ?!! अरे ! उस एक गिलास पानी की कीमत, जैसे प्राण की कीमत नहीं हो सकती, वैसे पानी की कीमत तब नहीं हो सकती। क्या प्राण बचा सकते हैं लाखों-करोड़ों रुपये से ? नहीं, किन्तु ऐसी स्थिति में एक गिलास पानी से प्राण बचाया जा सकता है - इतनी कीमत है इसकी !!

वैसे अभी जब दुष्काल वर्तता है - यह (काल) धर्म का दुष्कालरूप काल है। प्रायः जीव अपना अहित कर रहे हैं। हित करनेवाला शायद ही कोई जीव (होता है)। आत्मार्थी भी शायद ही कोई निकलता

है ! ज्ञानी मिलने तो बहुत दुष्कर हैं। इस परिस्थिति में यहाँ ऐसा लिखते हैं कि, (ज्ञानी के प्रति) '...अपूर्व दृष्टि से देखने से...' (अर्थात्) ऐसा योग मुझे अनंतकाल में नहीं हुआ ! पहला-पहला यह योग मिला है !! ऐसा उसे लगे। जब पूर्व में अनंत काल से नहीं मिला और अभी मिला है तो अब आत्महित किये बिना, भवभ्रमण चालू रह जाये, ऐसी स्थिति में मुझे यह आयुष्य पूर्ण नहीं करना है, व्यतीत नहीं करना है। ...लेकर ही छोड़ना है ! भीतर में इतना विचारबल उत्पन्न हो व सामने ऐसा योग हो, ऐसा ही कोई अपूर्व विचार आये, ऐसा (कोई) अपूर्व निर्णय हो, तब अपूर्व दृष्टि से अपने हितकारी को अनंत तीर्थकरों से भी अधिक हैं, ऐसी अपूर्व दृष्टि से देखे तब ज्ञानी के चरण में 'मन का स्थापित होना सुलभ होता है।'

ऐसी भूमिका में आये बिना उसे जो यथार्थरूप से आश्रय होना चाहिए वैसा ज्ञानी का आश्रय नहीं होता है। ऊपर-ऊपर से होता है जिसका कोई फल नहीं आता। जिससे भीतर में हित होने की परिस्थिति पैदा नहीं होती। अब ऐसा नहीं होने के पीछे कौन-कौन से कारण हैं यह (कहते हैं)। वर्तमान परिस्थिति में इससे विरुद्ध परिस्थिति कैसी है ? तत्संबंधित मार्गदर्शन देते हैं।

'ज्ञानीपुरुष के आश्रय में विरोध करनेवाले पंच विषयादि दोष हैं।' इस जीव को पंचेन्द्रिय के भिन्न-भिन्न प्रकार के विषयों के प्रति जो आसक्ति है या सुखबुद्धि के कारण जितने भी परिणाम खींचते हैं, वे ज्ञानीपुरुष के आश्रय में विरोधरूप हैं। देखो ! कहाँ से कहाँ बात को जोड़ते हैं !! इसमें दूसरा अर्थ ऐसा निकलता है कि जिस जीव का मन ज्ञानीपुरुष के चरण में स्थापित हुआ हो, उनके प्रति परम भक्ति आयी हो, परम बहुमान आया हो उसको

पंचेन्द्रिय के विषयों का रस अपने आप फ़ीका हो जाता है।

सोगानीजी ने एक बोल लिखा है कि, निश्चय भक्ति व्यवहार भक्ति का निषेध करती है और व्यवहार भक्ति पंचेन्द्रिय के विषय में रही आसक्ति का निषेध करती है। यह बहुत स्वाभाविक ही है। एक तरफ का झुकाव विशेष बढ़ने से दूसरी तरफ का झुकाव स्वतः कम हो जाता है। क्योंकि परिणाम तो एक ही है, (इसलिए) एक साथ दो विरुद्ध दिशा में झुक नहीं सकता।

अतः जिस जीव को पंचेन्द्रिय के विषय में तीव्र रस है, वह ज्ञानीपुरुष के चरण में मन को स्थापित नहीं कर सकता। ऐसा है। देखो ! इसमें क्या है, अंतरंग बात ऐसी है कि पंचेन्द्रिय के विषय में रस है, सुखबुद्धि के कारण जो रस है वह परिणाम की मलिनता है। ये परिणाम मलिन हैं, जब कि ज्ञानी के चरण में मन स्थापित करना यह तो ज्ञानी की पहचानपूर्वक ही संभवित है, तो इसमें तो निर्मलता चाहिए। अब निर्मलता और मलिनता साथ-साथ कैसे रह सके ? जिसके चित्त में मलिनता विशेष है वह निर्मलता में नहीं आ सकता। और जिसमें निर्मलता है वह मलिनता में नहीं आ सकता। यह परस्पर विरुद्ध परिस्थिति है। अतः ऐसे दोषों से भी ज्ञानीपुरुष का आश्रय नहीं होता है।

अतः **'...उन दोषों के होने के साधनों से...'** यानी कि निमित्तों से **'...यथाशक्ति दूर रहना,...'** भले ही प्राप्त हो फिर भी। पूर्वकर्म के योग से पुण्य का उदय हो तो भी उन सब निमित्तों से दूर रहना। खुद को नीरस परिणाम से, जिस तरह अपना परिणामन और जीवन चले उस प्रकार जीना और इससे उदासीन रहना। **'...दूर रहना,...'** मतलब उदासीन रहना। **'...और प्राप्तसाधन में भी...'** अर्थात् प्राप्त निमित्तों में भी, देखो ! यह बात ली है। प्राप्त निमित्तों

में भी '...उदासीनता रखना,...' (साधन प्राप्त) नहीं हो तब उदासीन रहे यह बात नहीं है, हो फिर भी उदासीन रहता है।

'मुझे इसमें रस नहीं है। मुझे उन अनुकूलताओं में रस नहीं है। पंचेन्द्रिय के विषय प्राप्त हैं परंतु मुझे इनमें रस नहीं है। मेरा चित्त कुछ और ढूँढ़ता है। यह सब तो अनंतबार (मिल चुका है)।' 'सकळ जगत छे एठवत्...' ज्ञानी की दशा के बारे में बात की न ! इसका अर्थ है कि, मुझे इसमें रस नहीं है। एंठ (झूठन) में मुझे रस नहीं है। मेरा मन कहीं और लगा हुआ है। ऐसी जगह लगा है कि, जहाँ से इस तरफ आना मुझे बिलकुल नहीं सुहाता है।

'...प्राप्तसाधन में भी उदासीनता रखना, अथवा उन उन साधनोंमें से अहंबुद्धि को दूर कर,...' (अर्थात्) यह मेरा है, मुझे प्राप्त हुआ है, मेरे संयोग हैं - ऐसा अपनत्व जो हो रहा है, वह अपनत्व छोड़कर अर्थात् भिन्नता करनी। '...उन्हें रोगरूप समझकर प्रवृत्ति करना योग्य है।' जितने परिणाम (पंचेन्द्रिय के विषय के प्रति) जाते हैं, अभी मुमुक्षु है इसलिए परिणाम में सर्वथा रागादिभाव ही न हो यह तो बननेवाला है नहीं, परिणाम तो होंगे (फिर भी वह परिणाम) रोग है, वह जीव का एक रोग है ऐसा जानकर प्रवृत्ति करने योग्य है। यह इसमें से उदास होने का, नीरस होने का प्रकार लिया है।

(आगे कहते हैं) 'अनादि दोष का ऐसे प्रसंग में विशेष उदय होता है।' जब यह जीव पीछे हटना चाहता है तब उलटा विशेष पुण्य का उदय सामने आता है, जोर करता है। ज्यादा से ज्यादा अनुकूलताएँ होने लगती हैं। (इसलिए) कहते हैं कि ऐसे प्रसंग में विशेषतः उदय सामने आता है, यानी जीव को ज्यादा प्रलोभन होने

लगे ऐसी परिस्थिति पैदा हो जाये तो भी जागृत रहना - ऐसा कहते हैं, फिर भी आत्मा में विशेषरूप से जागृत रहना।

‘क्योंकि आत्मा उस दोष को नष्ट करने के लिए अपने सन्मुख लाता है...’ जब उन दोषों का नाश करना है तो उनकी स्थिति संक्रमित होकर भी - अपकर्षण होकर कर्म का उदय आयेगा। यानी ऐसी परिस्थिति भी पैदा होगी। लेकिन भले ही वह सामने आये, स्वरूपांतर करके दूसरे वेश में आये - उसी वेश में नहीं तो दूसरे वेश में आये (तो भी भले आये)। पहले खुद कोई न कोई प्रवृत्ति करके अनुकूलताएँ जुटाता था। तब उसे ऐसा लगता था कि मैं अपनी बुद्धि से, अपनी शक्ति से, अपनी मेहनत से यह सब कुछ प्राप्त करता हूँ। बाद में ऐसा भी हो कि खुद ने तो प्रवृत्ति छोड़कर निवृत्ति ले ली हो कि, चलो हम उदास हैं, तो दूसरे लोग अनुकूलता देने लगेंगे ! अनुकूलताएँ स्वरूपांतर करके सामने आयेगी। रूप बदल - बदल कर लुभाने आयेगी।

‘...वह स्वरूपांतर करके उसे आकर्षित करता है...’ यानी कि तुझे ठीकपना कितना लगता है ? ये अनुकूलताएँ जो मिल रही हैं उसमें कितना ठीकपना लगता है ? **‘...और (आत्म) जागृति में शिथिल करके अपने में एकाग्र बुद्धि करा देता है।’** लगता है जैसे वह एकाग्र करा देता है। वास्तव में खुद जागृति छोड़ देता है तब उपचार करने में आता है कि उन संयोगों ने उसको तन्मय करा दिया, एकाग्र करा दिया। ऐसा कहते हैं कि तू ध्यान रखना ! रूप बदल-बदल कर तुझे लुभाने आयेंगे ! अनुकूलता के संयोग रूप बदल-बदल कर तुझे धोखा देने आयेंगे। पहले जिस रूप में आये होंगे उस ही रूप में नहीं आयेंगे। तुमने यदि दिमाग में बिठा लिया हो कि ऐसे प्रसंग में ऐसा करना, इसमें ऐसा करना, तो

वैसे नहीं चलेगा। (ऐसे तेरी जागृति काम नहीं आयेगी)। कहीं भी तेरी आत्मजागृति में शिथिलता आ गई तो भूल होने में देर नहीं लगेगी।

मुमुक्षु :- नये-नये रूप का एक तो आपने दृष्टांत दिया कि दूसरे लोग अनुकूलता देने लगे, ऐसी दूसरी कौन-कौन सी बातें हैं ?

पूज्य भाईश्री :- दूसरी बातों में तो क्या है, कि जैसे पहले उदय में कुछ न कुछ अपनी बुद्धि शक्ति - विचार लगाता था, अब ऐसा जाना कि यह सब झूठ है और इस प्रकार की झंझट में जाने योग्य नहीं है। चाहे जैसी परिस्थिति में हमको चला लेना है ऐसा नक्की करे कि, दूसरी ओर से स्वतः अनुकूलताएँ बढ़ने लगे। स्वतः अपने आप किसी न किसी प्रकार से (बढ़ने लगे) तो भी उसमें ठीकपना लगता है, तब उसमें वह खुद भी धोखा खाता है। यहाँ ऐसा कहना चाहते हैं। अलग-अलग प्रकार से धोखा खा लेता है।

अब उस वक्त क्या विचार करता है ? (तो कहते हैं) 'वह एकाग्र बुद्धि इस प्रकार की होती है कि,...' देखो ! बहुत सूक्ष्म परिणाम पकड़े हैं। '...मुझे इस प्रवृत्ति से, वैसी विशेष बाधा नहीं होगी,...' पहले तो दुकान पर बैठता था अब तो घर पर बैठे-बैठे ही थोड़ा- बहुत काम कर लेता हूँ, इसमें कोई खास नुकसान नहीं है। लेकिन अपनी सारी अनुकूलताएँ बनी रहती हैं। पहले बहुत मेहनत करने पर जो अनुकूलता मिलती थी, अब तो निवृत्ति में थोड़ा काम करते हैं (इसमें ही मिल जाती हैं)। और इतनी प्रवृत्ति से हमें बाधा नहीं होगी। लेकिन प्रवृत्ति का Volume भले ही कम हुआ हो, प्रवृत्ति का फैलाव भले ही कम हुआ हो परंतु

प्रवृत्ति का रस कम हुआ है कि नहीं ? यह सवाल है। जिस दिन दुकान पर बैठता था, इतने ही रसपूर्वक वह कम प्रवृत्ति हो रही है या प्रवृत्ति के रस में कोई कमी-बेशी हुई है ? रस का प्रमाण कितना है ? यह अवलोकन बिना - निज अवलोकन बिना अपने रस का पता नहीं चलता है क्योंकि कषाय की मंदता है न ! पहले (धंधा करता था तब) तो कषाय की तीव्रता होती थी, इसलिए धमाल-धमाल लगती थी। परिणाम में भी उथल-पुथल रहती थी। अब कषाय मंद हुआ, प्रवृत्ति भी कम हो गई इसलिए अब कोई दिक्कत नहीं है। सब बराबर है। आत्मा का अधिक नुकसान कर दे ऐसी यह प्रवृत्ति नहीं लगती है। खुद को (ऐसा भी लगता है कि) 'मुझे इस प्रवृत्ति से वैसी विशेष बाधा नहीं होगी,...' और धीरे-धीरे '...मैं अनुक्रम से उसे छोड़ूँगा।' और फिर भी जितनी करता हूँ इसमें मैं बराबर जागृति रखूँगा।

'...इत्यादि भ्रांतदशा उन दोषों से होती है;...' जीव को ऐसी भ्रमणा होती है। इस विषय में उसको ऐसी एक भ्रमणा होती है। खुद अपने आप से धोखा कर लेता है। झूठा संतोष पकड़ लेता है। जब-जब वर्तमान परिणाम में जीव को संतोष आये तब चारित्रमोह भले ही मंद हो, परंतु दर्शनमोह की तीव्रता हुए बिना नहीं रहती। यह सिद्धांत है। क्योंकि उसवक्त पर्यायदृष्टि ज्यादा तीव्र हुई, पर्यायदृष्टि तीव्र होने से दर्शनमोह तीव्र होता है। इस तरह भ्रांतदशा में खुद वैसा दोष करता है।

'...जिससे जीव उन दोषों का संबंध नहीं छोड़ता;...' उन (दोषों) से उसका संबंध नहीं छूटता है। 'अथवा वे दोष बढ़ते हैं;...' (यानी) कि क्रमशः (वे दोष बढ़ते भी हैं)। दर्शनमोह बढ़ता है, वह दोष (बढ़ता है)। वह दर्शनमोह छूटता तो नहीं परंतु बढ़ता जाता है।

और '...उसका ध्यान उसे नहीं आ सकता।' वह बात उसके लक्ष्य में नहीं आती है।

क्या होता है कि, जीव की समझ में-उपयोग में स्थूलता होने के कारण चारित्रमोह मंद होता है वह तो खयाल में आता है, किन्तु कहाँ-कहाँ दर्शनमोह तीव्र होता है या मंद होता है ? उस विषय में उसका लक्ष्य नहीं जाता। देखो ! कितनी सूक्ष्म बात स्थापित की है !!

अब, दूसरी तरफ एक सरल बात उन्होंने कौन-सी कही ? कि अगर सत्पुरुष के प्रति बहुमान आये और वह भी पहचानपूर्वक बहुमान आये तो दर्शनमोह अपने आप मंद होता है। उसमें विशेष फायदा क्या है ? कि जिसने दर्शनमोह का अभाव किया उनके प्रति उसे बहुमान आया, उनका विशेष मूल्यांकन हुआ, उनका मूल्य अधिक आया तो ऐसे परिणाम में अपने आप दर्शनमोह का रस-अनुभाग टूटता है। दर्शनमोह का अनुभाग टूटे तब ज्ञान की पर्याय में मुमुक्षु के योग्य आत्महित की विशेष निर्मलता आती है। यह निर्मलता जरूरी है। इस भूमिका में ऐसी निर्मलता आनी जरूरी है।

मुमुक्षु :- रस अभिप्राय से संबंध रखता है ?

पूज्य भाईश्री :- अभिप्राय से संबंध है, सो तो है ही लेकिन अभिप्राय तो बाद में टूटेगा। पहले तो समझ से विचार करता है परंतु जितनी जागृति (हो यानी कि) वर्तमान प्रवृत्ति में जितनी जागृति उतना उसको तब वर्तमान में लाभ का कारण बनता है। मुख्य विषय 'जागृति' का है।

(अब कहते हैं) 'इस विरोधी साधन का...' विरोधी साधन मतलब अनुकूलता के संयोगों का 'दो प्रकार से त्याग हो सकता है-' यानी

कि दो तरह से अनुकूलता को छोड़ा जा सकता है। 'एक, उस साधन के प्रसंग की निवृत्ति,...' अर्थात् मुझे जरूरत नहीं है। उन-उन चीजों की मुझे कोई जरूरत नहीं है। मुझे (इसका) विकल्प नहीं है, मुझे इच्छा नहीं है, मुझे जरूरत नहीं है, मुझे वह बहुत पसंद है - ऐसा प्रकार नहीं। यानी कि एक तो उन-उन साधन के प्रसंग की निवृत्ति चाहना।

'दूसरा, विचारपूर्वक उसकी तुच्छता समझना।' फिर मान लो (अनुकूल संयोग) रहे तो भी इसकी कीमत कितनी ? दृष्टांतरूप से एक सामान्य बहुत सीधा-सादा बहुत बड़ा समर्थ दृष्टांत लें तो, इस जगत में पैसे का मूल्य बहुत है। अगर सर्वस्व कुछ है तो वह पैसा सर्वस्व हो चुका है। अब इस परिस्थिति में इसकी तुच्छता कैसे समझना ? कि, पैसा तो आजकल बहुत से पापियों के पास है। जैसे ये परदेश के लोग जो हैं, धनाढ्य देश में जिसकी गिनती है, अमरिका, स्विज़रलैन्ड इत्यादि वहाँ तो खान-पीन, रहन-सहन विवेक शून्य-से हैं। या समझो जंगली पशु समान है !! उन लोगों का जो जीवन है उसमें कोई विवेक नहीं है। मांसाहार से लेकर पूरा जीवन ही उन लोगों का ऐसा होता है। पापी में पापी प्राणियों के पास करोड़ों-अरबों की दौलत होती है। इसकी कीमत कितनी ? यह सोचकर इसकी तुच्छता समझना। फिर अपना जितना कुछ योग होगा - पुण्य का योग व संपत्ति होगी उस पर कितनी महत्ता आयेगी ? (उसको तो लगेगा कि) 'यहाँ इसमें क्या है, पापी में पापी लोगों के पास करोड़ों-अरबों रुपये होते हैं, अभी यह जो सामान्य है इसमें क्या ममत्व करना ? इसकी महत्ता क्या रखनी ? जितना भी हो उसका ममत्व भी क्या और इसकी महत्ता भी क्या करें ? इस जीव को इसमें रस लेने जैसा क्या है ? जो कुछ भी प्राप्त

हो, जिसको जितना पुण्य योग से - नसीब योग से जिसे प्रारब्ध कहते हैं, उसकी तुच्छता उसे आनी चाहिए। किसी भी प्रकार से इसकी अगर तुच्छता समझ में आये, और उन-उन साधनों की खुद निवृत्ति चाहे, उदास रहे, निरपेक्ष भाव से रहे तो उस तरफ का विभावरस उसका तीव्र नहीं होगा, वरना परिणाम का विभावरस स्वभावरस को उत्पन्न नहीं होने देगा। दर्शनमोह जल्दी से पकड़ में नहीं आयेगा लेकिन रस पकड़ में आयेगा। परिणाम के रस और दर्शनमोह को अविनाभावी संबंध है। इसलिए रस को पकड़ो, क्योंकि वह वेदन में आता है। रस जब तीव्र होता है तब तो (वेदन में आता है)। हर्ष-शोक का रस तीव्र होता है कि नहीं ? कोई हर्ष के परिणाम हो चाहे शोक के परिणाम हो, जब एकदम तीव्र रस से परिणाम होते हैं तब-तब दर्शनमोह निश्चितरूप से बढ़ता ही है।

मुमुक्षु :- हँसना आये, रोना आये उस वक्त दर्शनमोह तीव्र हो जाता है ?

पूज्य भाईश्री :- हाँ, तीव्र हो जाता है। दर्शनमोह उस वक्त तीव्र हो जाता है। रस बढ़े, जहाँ-जहाँ रस बढ़ जाये-विभाव रस बढ़ जाये वहाँ दर्शनमोह तीव्र हो जाता है। स्वभाव रस बढ़ता है वहाँ दर्शनमोह का घात होता है। यह सीधी-सी बात है।

इसलिए तो गुरुदेवश्री ने (स्वरूप) निर्णय के विषय में यह बात ली। (गुरुदेवश्री के वचनामृत - १९) समयसार - १४४ गाथा पर (पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन का) एक अंश इसमें पसंद किया है न ! वह १९वाँ बोल है। इसमें यह बात ली है। 'ऐसा निर्णय करने की जहाँ रुचि हुई...' स्वरूप का निर्णय करने की जहाँ रुचि हुई, 'वहाँ अंतर में कषाय का रस मंद पड़ ही जाता है।' कषाय मंद

हो जाता है (ऐसा) नहीं कहा, कषाय रस मंद हो जाता है - ऐसा कहा ! भाषा तो जो स्वयं आती है वह भाव अनुसार आती है न ! **'कषाय का रस मंद पड़े बिना इस निर्णय में नहीं पहुँचा जा सकता।** यह सिद्धांत कहा। बाद में यह सिद्धांत कहा क्योंकि कषायरस मंद होते ही जीव को दर्शनमोह का रस मंद हो जाता है। दर्शनमोह का रस मंद होना और कषायरस मंद होना ये दोनों साथ-साथ Parallel चलता है। परिणाम को मलिन करनेवाला वह भाव है। उस भाव में मंदता आये बिना निर्मलता नहीं आती, निर्मलता आये बिना स्वरूप-निर्णय नहीं होता। स्वरूप का निर्णय न हो उसे स्वरूप का अनुभव नहीं होता। वह तो २०३ (नंबर के बोल में लिया)। २०३ नंबर के (बोल में) उन्होंने यह सिद्धांत स्थापित किया।

२०३ बोल में एक पंक्ति ऐसे ही लिखी है कि, **'दर्शनमोह मंद किये बिना वस्तुस्वभाव खयाल में नहीं आता।'** यानी कि निर्णय में नहीं आयेगा, भावभासन में नहीं आयेगा, **'और दर्शनमोह का अभाव किये बिना आत्मा अनुभव में नहीं आ सकता।'** यह अनुभव पहले का क्रम है - Pre-stage है। उसका दर्शनमोह का अनुभाग घटना चाहिए। क्योंकि प्रथम स्वानुभव में उपशम (सम्यग्दर्शन) होता है। उपशम तो उसका होता है - जो कमजोर हो वह दबता है, बलवान कभी नहीं दबता। सभी (कर्म) की प्रकृतियों में एक दर्शनमोह की ही प्रकृति ऐसी है कि जिसके उदय में जुड़े बिना, उदय हो तो जुड़े बिना जीव की दूसरी परिस्थिति नहीं रहती। दूसरी (कर्म प्रकृति) की बात अलग है। सर्वत्र भिन्न होकर उसका उदयाभावी क्षय करे। परंतु एक दर्शनमोह की प्रकृति ऐसी है। करणानुयोग के अभ्यासियों को यह जो भूत सवार हुआ है, वह इसीमें से हुआ है। कर्म का उदय... कर्म का उदय..! ऐसे जो ज़ोर देते हैं, उसका

मूल कारण दर्शनमोह की ऐसी परिस्थिति है। और अनादि संसार भी इसी वजह से है।

अतः प्रयोजनभूत विषय ऐसा है कि जीव को दर्शनमोह की शक्ति को ही तोड़ना होगा। अगर दर्शनमोह कमज़ोर होगा तो ही उसका उपशम सम्यग्दर्शन होगा, वरना उपशम सम्यग्दर्शन कभी नहीं होगा।

मुमुक्षु :- द्रव्यलिंगी मुनि को कषाय तो मंद हुआ है परंतु रस तीव्र वर्तता है।

पूज्य भाईश्री :- बहुत मंद पड़ा है (परंतु) कषाय का रस मंद नहीं हुआ और दर्शनमोह भी मंद नहीं हुआ है। वह संतोष पाता है। समयसार की १५४ (वीं) गाथा है। कर्ता-कर्म अधिकार पूर्ण होनेके बाद पुण्य-पाप अधिकार शुरू होता है। उसमें १५४ वीं गाथा में द्रव्यलिंगी मुनि की बात ली है। वह पंचाचार का पालन करता है - दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार। परंतु वह अपने वर्तमान कषाय की मंदता के परिणाम में संतुष्ट है। स्थूल कषाय के परिणाम से छूटा है लेकिन उसीमें संतुष्टपना हो जाता है। किसी भी वर्तमान अवस्था में संतोष हुआ कि तुरंत दर्शनमोह की पकड़ अपने आप ज्यादा तीव्र हो ही जाएगी।

मुमुक्षु :- दर्शनाचार का पालन करने के बावजूद भी श्रद्धा में भूल रह जाती है ?

पूज्य भाईश्री :- हाँ, रह जाती है। उसमें क्या है, दर्शनाचार मतलब वास्तव में क्या है कि श्रद्धा का विषयभूत जो निश्चय तत्त्व - अपना आत्मा है और श्रद्धा के विषयभूत नौ तत्त्वों का श्रद्धान उसे सम्यग्दर्शन (कहते हैं)। इसप्रकार भेद और अभेद - दो प्रकार से कहा जाता है। जब कि दोनों विषय में उसके विचार चलते हैं। फिर भी वर्तमान पर्याय के संतुष्टपने के कारण और एकत्व की

तीव्रता के कारण दर्शनमोह बिलकुल मंद नहीं होता है। यह एक तकलीफ़वाली बात है। ध्यान खींचने जैसा विषय यह है कि उसको करना क्या रह गया ?

एक चिड़िया, मेढक भी जब सम्यग्दर्शन प्राप्त करते हैं। जब कि तिर्यच अवस्था है उसको कोई (ज्ञान का) उघाड़ तो है नहीं। यहाँ द्रव्यलिंगी को अंगपूर्व का उघाड़ होता है। अभी तो किसी को नहीं है। ऐसा अंग पूर्व का उघाड़ होता है और साथ में इतना ही मंद कषाय का आचरण होता है ! इसका मतलब ज्ञान का और चारित्र का - दोनों का क्षयोपशम बहुत तगड़ा है लेकिन क्रम चूक गया है। पहले क्रम में दर्शनमोह का अभाव करना है। इसके बजाय पहले दूसरी दिशा में प्रगति करने गया। दर्शनमोह को (मिटाने की) दिशा में प्रगति करनी चाहिए। इसके बदले ज्ञान और चारित्र के गुण पर उसको आसक्ति हो गई ! वह ऐसे - उसमें विकास करूँ, जितना शक्य हो उतना इस दिशा में विकास करूँ ! (ऐसे करने में) दिशा बदल जाएगी !!

एक चिड़िया, मेढक (जब सम्यग्दर्शन) प्राप्त करते हैं तो उसने क्या कर लिया ? और यह द्रव्यलिंगी (सम्यग्दर्शन प्राप्त) नहीं करता है तो उसने क्या नहीं किया ? बस ! इस एक मुद्दे पर Concentration (एकाग्र) होने जैसा है। इस मुद्दे का अगर उकेल आ जाय तो कोई दिक्कत नहीं है। वरना कुछ भी कर ले सब गड़बड़वाला ही रहेगा। कहीं भी उसका उकेल नहीं आयेगा।

मुमुक्षु :- कषाय जितनी आसानी से पकड़ में आता है उतनी आसानी से रस पकड़ में नहीं आता।

पूज्य भाईश्री :- कषाय थोड़ा अधिक स्थूल है, रस इससे सूक्ष्म है। लेकिन इसलिए पकड़ में न आये ऐसी बात नहीं है। अवलोकन

की जितनी Practice (अभ्यास) हो उतना पकड़ सकते हैं। जौहरी बनते वक्त पहली बार हीरा देखा हो और जौहरी बनने के बाद २५ साल बाद हीरा देखे, दोनों में फ़र्क तो है कि नहीं ? नज़र तो वही है, मतलब आँखें तो वही हैं। आँखों का तेज कोई ज्यादा बढ़ गया ऐसा तो नहीं है। देखने की Practice (अभ्यास) बढ़ी है, और कुछ नहीं हुआ। वही की वही खूबियाँ देखनी हैं, दाग देखना है, जितने भी उसके पाँच-सात-दस पहलु देखने रहते हैं, उन पहलुओं को देखने की Practice ही बढ़ी है और कुछ नहीं हुआ। वैसे यहाँ भी अवलोकन की Practice बढ़नी चाहिए। विचार करता है लेकिन अवलोकन नहीं करता। इसलिए विचार ही विचार में आगे बढ़कर ज्ञान का क्षयोपशम बढ़ता है। क्योंकि विचार की वृद्धि हेतु वांचन करता है, श्रवण करता है, चर्चाएँ करता है, चिंतन करता है, मनन करता है। जब कि अवलोकन करना, यह दूसरी बात है। इसके बिना रस पकड़ में नहीं आयेगा। जिस रस को पकड़ना है वह थोड़ा सूक्ष्म जरूर है लेकिन खुद अवलोकन करे तो जरूर पकड़ में आ सकता है। अवलोकन ही न करे तो पकड़ में नहीं आये, यह तो सीधी-सी बात है।

अब कहते हैं **‘विचारपूर्वक तुच्छता समझने के लिए प्रथम उस पंचविषयादि के साधन की निवृत्ति करना अधिक योग्य है,...** क्या कहते हैं ? विचार से तुच्छता समझ में आये इसके लिए उन-उन संयोगों का त्याग करना विशेष अनुकूल है। क्यों ? (क्योंकि) ग्रहण करते वक्त तो उसमें सुख का अभिप्राय होने से रस लेने में आ ही जाता है। अतः उसको रस की निवृत्ति करनी हो तो उस हेतु पूर्वक प्रसंग की भी निवृत्ति करना विशेष योग्य है। रस की निवृत्ति के हेतु बिना त्याग करे तो अवश्य निष्फल जायेगा।

लेकिन अगर रस की निवृत्ति के हेतु से त्याग करे तो उसमें वह सहायक निमित्त है।

'...क्योंकि उससे विचार का अवकाश प्राप्त होता है।' इतना विवेक आता है। वैसी त्याग की दशा में उसे विचार का अवकाश ज्यादा मिलता है। ज्यादा विचार करने का अवकाश मिलता है, जैसे अब मैं मेरे परिणाम को देखूँ ! जाँच करूँ कि कैसे रहते हैं ?

'उस पंचविषयादि के साधन की सर्वथा निवृत्ति करने के लिए जीव का बल न चलता हो, तब...' क्या (कहते हैं) ? उस पंचविषयादि साधन की निवृत्ति सर्वथा मतलब सर्वथा त्याग करने का बल न चलता हो तब, क्योंकि यह तो मुमुक्षु की भूमिका है। **'तब क्रम-क्रम से, अंश-अंश से उसका त्याग करना योग्य है;...'** मैं जरूरत रहित ऐसा अजरूरतवाला हूँ, फिर जरूरत कम करने में कौन-सी बड़ी बात है ? ऐसा कहते हैं। इसके बिना न चले और उसके बिना न चले, ऐसी आड़ लगाने की जरूरत नहीं है। जब आत्मा स्वरूप की अपेक्षा से निरालंब, निरपेक्ष है ऐसी श्रद्धा करनी है, ऐसा जानना है और उसमें स्थितिकरण करना है फिर दीनता तो छोड़नी ही होगी, जैसे इसके बिना नहीं चलेगा या उसके बिना नहीं चलेगा, ऐसी सब दीनता तो छोड़नी ही होगी। इसलिए (कहा कि) अंश-अंश में उसका त्याग करना योग्य है।

(आगे कहते हैं) **'परिग्रह तथा भोगोपभोग के पदार्थों का अल्प परिचय करना योग्य है।'** (संयोगादि) प्राप्त हो तो भी उसका परिचय व प्रसंग अल्प कर देने योग्य है। **'ऐसा करने से अनुक्रम से वह दोष मंद पड़ता है,...** क्योंकि जीव का लक्ष्य है - अंतर लक्ष्य है अपनी निर्मलता का, इसलिए दोष मंद होने लगते हैं। और अगर

दोष मंद पड़े तो '...आश्रयभक्ति दृढ़ होती है।' (अर्थात्) ज्ञानी के चरण में निवास करना है, मन जो स्थापित करना है, वह दृढ़ता से होगा, सरल पड़ेगा, सुगम पड़ेगा। बात को वहीं पर जोड़ते हैं। वर्तमान विषय कषाय के परिणाम और ज्ञानी के चरण में मन स्थापित करना - इन दो बात का मेल नहीं है, ऐसा कहते हैं।

'...आश्रयभक्ति दृढ़ होती है तथा ज्ञानी के वचन आत्मा में परिणमित होकर,...' उनके वचन के प्रति बहुमान आये, उसका मूल्यांकन हो, वह समझ में आये, उनके वचन में रहा भाव समझ में आये (तब उन वचनों का) '....आत्मा में परिणमित होकर, तीव्र ज्ञानदशा प्रगट होकर जीवन्मुक्त हो जाता है।' वहाँ तक चला जाता है। इस Line से अनुसंधान करे तो ज्ञानदशा प्राप्त होगी। परिणमन होगा मतलब ज्ञानदशा होगी। तीव्र ज्ञानदशा होगी और जीवन्मुक्त दशा भी होगी। तेरहवें गुणस्थान तक की बात ले ली है।

मुमुक्षु :- उपदेश से उपशम और वैराग्य प्राप्त हो तत्पश्चात् यह दशा होती है। चार पंक्ति में यह क्रम लिया है।

पूज्य भाईश्री :- उपदेशबोध व सिद्धांतबोध-दोनों को एक-दूसरे से कारण-कार्य का संबंध है। एक कारण बने तब कार्य में इसका फल आता है, ऐसा है। यह तो कारण-कार्य का संबंध है। यहाँ उस बात का अनुसंधान उन्होंने नहीं लिया। यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि तेरे विभावरस के परिणाम को मंद कर ! सत्पुरुष के चरण में मन को स्थापित कर ! अपूर्व भाव से उन्हें देख ! उनके वचन में रहे अपूर्व भावों का अवगाहन कर (तो) अवश्य उसका परिणमन होकर, तीव्र ज्ञानदशा होकर जीवन्मुक्त दशा तक का लाभ तुम्हें होगा। ऐसा कहना है।

आश्रयभक्ति की दृढ़ता में अनन्य भाव से, तीव्र भाव से या अत्यंत बहुमान से, अत्यंत भक्ति से आश्रय करना। आश्रय करना मतलब इसमें खुद की लघुता तो सहज ही आ जाती है। भले ही इतनी योग्यता प्रगट हुई हो फिर भी उसमें अपनी लघुता आ ही जाती है। सहज ही ऐसा बनता है।

मुमुक्षु :- यह चाहिए, वह चाहिए - ऐसे भाव को आप दीनता कहते हैं ?

पूज्य भाईश्री :- हाँ, वह दीनता है। चाहिए.... चाहिए (जो होता है) वह दीन परिणाम है। क्योंकि इसके बिना मुझे नहीं चलेगा, मैं इसके बिना पंगु (ऐसा जो लगता है) वह तो दीनता ही है न ! वास्तव में दीनता तो क्या कहे ! परंतु अपने सुख की पुद्गल परमाणुओं के पास यह जीव भीख माँगता है !! 'तू मुझे सुखी कर ! मुझे तेरेमें से सुख मिले ! तुझ से मुझे सुख प्राप्त हो !' - ऐसे-ऐसे जो (परिणाम) हैं वह सारे परमाणु की पर्याय के आगे अपने सुख की याचना करने के सिवा कुछ नहीं है। उसे दीनता कहो - याचना कहो (सब एक ही है)। आखरी पैराग्राफ रह जायेगा। विशेष कल के स्वाध्याय में लेंगे।



प्रवचन - १३ दि. २-१२-१९९० - पत्रांक-५७२ (३)

श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत पत्र - ५७२ चलता है। पत्रा - ४६१। आखरी पैराग्राफ लेना है। सारे पत्र का सारांश यह है कि जीव पात्रता में आकर यानी कि दर्शनमोह के रस को मंद करके, दर्शनमोह की शक्ति तोड़कर यदि सत्पुरुष को पहचान ले तो उसे मोक्षपर्यंत जीवन्मुक्तदशा प्राप्त हो जाये। ऐसे पूरे क्रम की संधि इसमें हो जाती है।

आखरी पैराग्राफ :- **‘जीव क्वचित् ऐसी बात का विचार करे,...’** ऐसा कहते हैं कि जिस वस्तु को प्राप्त करना है उसकी भावना बारंबार होना सहज है। सहज ही बार-बार उसकी भावना होगी। इसके बदले जीव शायद ही कभी इस बात का सिर्फ विचार मात्र करता है (तो) इसका मतलब ऐसा है कि उसे भावना नहीं है। कभी-कभी विचार आता है, इच्छा होती है। विचार की पूर्ति हेतु वांचन-श्रवण कर लेता है। वापिस उस विषय को छोड़ देता है। असत् प्रसंगों के लिए तो खुद की भावना मौजूद ही है। अतः असत्संग और असत्प्रसंगों में वापिस उसका परिणमन जैसा का तैसा अपने आत्मरस से दूर चला जाता है। विभावरस में खुद का आत्मा विशेषतः डूब जाता है। फिर से यह विचार करने आता है। इस तरह कभी-कभी इस बात का विचार करता है।

‘इससे अनादि अभ्यास का बल घटना कठिन है,...’ इससे कोई

उसका अनादि अभ्यास मिट नहीं जाता। या अनादि से जो विपरीत रस की परिणति बनी हुई है इसमें फर्क नहीं पड़ता। जो उलटी परिणति है उसमें फर्क नहीं पड़ता, वह तो यूँ ही रह जाएगी। कभी विचार किया, वापिस छोड़ दिया, वापिस कभी विचार किया, (छोड़ दिया)। इस तरह सिर्फ कभी-कभी विचार करने से इस कार्य में आगे बढ़ने की परिस्थिति नहीं है।

मुमुक्षु :- ऐसी परिस्थिति होने में क्या कारण है ?

पूज्य भाईश्री :- भावना नहीं है। खुद को प्राप्ति की भावना नहीं है। भावना हो जब तो सहज ही परिणाम चलते रहे। जो चीज चाहिए और जिसकी प्राप्ति की भावना हो तो परिणाम इसके पीछे कृत्रिमता से लगाने नहीं पड़ते (परंतु) सहज-सहज ही लगते हैं। जगत में तो क्या बनता है ? जिसकी जरूरत हो उसमें क्या बनता है ? कि जब तक जरूरत की पूर्ति नहीं होगी तब तक परिणाम चलते ही रहेंगे। (यहाँ) जीव कभी विचार करता है, वापिस छोड़ देता है। इसका अर्थ यह हुआ कि वास्तव में उसे जरूरत नहीं लगी। जरूरत तो लगने का विषय है। समझ का विषय नहीं परंतु लगने का विषय है। समझना एक बात है, लगना दूसरी बात है।

(इसलिए कहते हैं कि) 'दिन-प्रतिदिन...' अर्थात् हररोज़ 'प्रसंग-प्रसंग में...' यानी कि उदय में जो भी प्रसंग सामने आये और उसमें प्रवृत्ति करनी पड़े, उस 'प्रवृत्ति-प्रवृत्ति में पुनः पुनः विचार करे,...' कि इस उदय प्रसंग में मुझे कितना रस आ रहा है ? मैं कितने रसपूर्वक कार्य करता हूँ - प्रवृत्ति करता हूँ ? मुझे मेरे स्वरूप का कुछ अंश में भी स्मरण रहता है क्या ? या विस्मरण रहता है ? सावधानी रहती है या असावधानी रहती है ? इसका

पुनः पुनः विचार करें।

'तो अनादि अभ्यास का बल घटकर,...' वैसे धारावाही से लगा रहे तो '...अनादि अभ्यास का बल घटकर अपूर्व अभ्यास की सिद्धि होकर सुलभ ऐसा आश्रयभक्तिमार्ग सिद्ध होता है। यही विनती।' यह तो अभी ज्ञानीपुरुष के आश्रय में जाने की बात चलती है। आत्मा का आश्रय करना तो बहुत दूर की बात है। अभी तो जीव को कोई ज्ञानीपुरुष मिले तो उनके आश्रय में रहना भी नहीं बन पाता है, कठिन पड़ता है। इसलिए कहा कि इस प्रकार दिन-प्रतिदिन, प्रसंग-प्रसंग में और प्रवृत्ति-प्रवृत्ति में पुनः पुनः विचार करे, जिससे अनादि अभ्यास का बल घटे। यानी कि यह रस मंद पड़े, परिणति में भी फ़र्क पड़े और अपूर्व अभ्यास की सिद्धि हो। जिससे कि उसे जिस अपूर्व मार्ग पर जाना तो है लेकिन बार-बार जो छूट जाता है, सिर्फ कभी-कभी विचार आता है - ऐसा न हो इसके लिए धारावाहीरूप से अभ्यास चालू रहे। और जिससे आश्रयभक्तिमार्ग जो सब से सुलभ है (इसकी प्राप्ति हो)। ज्ञानमार्ग और क्रियामार्ग से भी आश्रयभक्तिमार्ग तो सब से अधिक सुलभ है, उस मार्ग की अवश्य उसे प्राप्ति हो।

इस बात की वास्तविकता तो ऐसी है कि इस विषय की जिसको कीमत आती है, कीमत समझ में आती है, कीमत अनुभव में आती है वह तो अपनी पूरी शक्ति से इसके पीछे लग जाता है। जब तो उसे वास्तव में कीमत आयी है, मूल्यांकन आया है, वरना तो सब गतानुगतरूप से संप्रदायबुद्धि से जीव जो भी प्रवृत्ति करता है, वह तो अनंतबार की है। इससे आत्मा की कार्य सिद्धि होने की कोई संभावना नहीं है। इसलिए सही कीमत जिसको आती है वह तो पूरी शक्ति दाव पर लगाने के लिए तैयार हो जाता है। मेरी

जितनी भी शक्ति है वह सर्व शक्ति से अब यह एक काम करना है। अनंत काल बाद (मनुष्य) भव मिला है। अब यह दाव चूकना नहीं है। ऐसा भाव उसको आ जाता है। ऐसी दृढ़ता जिसको आये उसके लिए मार्ग सुलभ है। इस परिस्थिति में नहीं आनेवाले के लिए मार्ग दुर्लभ है। यह बात एकदम साफ है। इसमें दूसरा विकल्प करने योग्य नहीं है।

मुमुक्षु :- क्रियामार्ग व ज्ञानमार्ग से यह मार्ग सरल बतलाया, फिर भी अनादिकाल से यही दुर्लभ हो पड़ा है।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, जब इसमें भी नहीं आया तो अब दूसरी अपेक्षा क्या रखें ? गलत तरीके से शास्त्राभ्यास किया, विद्वान हो गया और गलत तरीके से क्रियाएँ करके दुनिया में - समाज में तपस्वी का बिरुद भी पाया। विद्वान का बिरुद भी पाया और क्रियाकाण्डी व तपस्वी भी माना गया। किन्तु अभी तक तो सत्पुरुष को पहचानने की पात्रता में भी नहीं आया। पहचानपूर्वक उनके चरण में मन का स्थापन करना चाहिए - इस स्थिति में नहीं आया। जब कि यह तो सुलभ है, उन दोनों से यह सुलभ है। सीधा ज्ञानमार्ग में चढ़कर आत्मा का ग्रहण करना, आत्मा का निर्णय करके अनुभव करना या कोई भी तपश्चर्या करके सिद्धि पाना, वे सब तो इससे कठिन बातें हैं। यह तो एकदम सरल बात है, उनसे सरल बात है। परंतु जो भी क्षति रही है वह जीव की पात्रता की क्षति है। सही बात तो यह है कि जीव की जो मूल में कमी रह गई है वह पात्रता की रही है। इसका मतलब खुद की ऐसी कोई योग्यता ही नहीं हुई कि जिसके कारण वह सही रास्ता पकड़ ले, सही रास्ते पर आये।

मुमुक्षु :- मुमुक्षु को सर्व प्रथम पात्र होने का सर्व शक्ति से

उद्यम करना चाहिए।

पूज्य भाईश्री :- पहले उसे पात्र होना चाहिए। पात्र होने के लिए दूसरा कुछ नहीं करना है। खुद को अंतःकरण से - निर्मल चित्त से, शुद्ध भावना से आत्महित करने के लिए अपने परिणाम में तैयार होना है। मुझे आत्महित कर लेना है। बार-बार मनुष्यभव मिलना दुर्लभ है। अतः इस भव में यदि कोई मुख्य काम है तो वह मेरा आत्महित करना वही है। इसे छोड़कर गौणरूप से जो भी होना होगा वह होगा, उस वक्त वैसा विकल्प आ जाएगा। अभी से कोई संकल्प करके, योजना बनाकर जीवन नहीं जीना है।

आदमी क्या करता है ? अपने जीवन को अच्छी तरह जीने की योजनाएँ बनाता है। पहले ऐसा करना है, बाद में ऐसा करना है, फिर परिणाम उसमें ही लगे रहेंगे। जो भी योजना पूरी होगी, तुरंत दूसरी योजनाएँ खड़ी होंगी। पहले लगेगा घर बसाना है, घर बसाने के लिए घर किराये पर लेना। फिर बसाना मतलब ? इसमें तो कितनी बातें आती हैं, इसका फिर ठिकाना नहीं रहता। यह चाहिए वह चाहिए... यह चाहिए... वह चाहिए... परिणाम इसी के पीछे लगे रहते हैं। फिर इससे अच्छा चाहिए.... इससे भी अच्छा चाहिए... फिर इससे भी ज्यादा अच्छा चाहिए, इन्हीं परिणामों के बीच जीव जिंदगी पूरी करता है। जब कि (यहाँ) उसकी पूरी Line बदल जाती है।

अगर मुझे मुख्यरूप से आत्महित ही करना है, मेरे जीवन में यह एक ही मुख्य काम है तो फिर बाहर के कार्य तो उदयानुसार जो भी होंगे, उसके अनुरूप जो भी विकल्प आना होगा वह आयेगा, जो भी काम होना होगा वह होगा। नहीं होनेवाला नहीं होगा, काम नहीं होनेवाला नहीं होगा। बात पूरी हो गई। परंतु मुख्य कार्य

के पीछे अपनी शक्ति लगानी है।

मुमुक्षु :- व्यापारादि से थोड़ी निवृत्ति लेने के बाद संस्था की योजनाएँ बनाने में लग जाता है।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, वह बात ठीक है। वह विचार करने योग्य बात है। व्यापार से निवृत्त हुए कि संस्था - एक, दो, तीन, चार (संस्थाओं में ट्रस्टी बन जाएगा)। मुझे भी याद नहीं है मैं कितने ट्रस्ट में ट्रस्टी हूँ ! लेकिन क्या हो गया ! इस्तीफ़ा दे देना !

एक विचार आया था, आज ही विचार आया था कि, जब ट्रस्ट में हो तब तो सामने जो भी प्रसंग आये उसमें न्याय-अन्याय का निर्णय करना पड़ता है। कम-बेशी प्रमाण में परिणाम तो वहाँ लगते ही हैं। अब यह एक विचार जब आता है कि यह बात हमें प्रतिबंधक है और (मेरे) अंतरंग में - मेरे कार्य में नुकसान करती है इसलिए यह माथापच्ची कम कर देनी है, तो कर दो छुट्टी ! चिट्ठी फाड़ दो। इसमें और तो कुछ है नहीं। खुद को ही चिट्ठी फाड़ देनी है। ट्रस्ट में रहना और अन्याय करना यह तो योग्य नहीं है। (फिर भी) चलना पड़े तो न्याय अनुसार ही चलना पड़े। न्याय-नीति, व्यावहारिक प्रसंग में तो व्यावहारिक तौर-तरीके से न्याय-नीति, अंगीकार करना यह तो एक फ़र्ज बनता है। लेकिन इस न्याय-नीति का अनुसरण करने में अगर अपने परिणाम में विशेष अवरोध खड़ा होता हो, दिक्कत खड़ी होती हो (तो) तिलांजली दे देनी चाहिए। बहुत-से मुमुक्षु ऐसी माथापच्ची में नहीं भी जाते हैं, हम भी एक मुमुक्षु के रूप में दूर रहें, इसमें कोई दिक्कत नहीं आती।

मुमुक्षु :- जिस जीव को ऐसा विचार आये, वही इसकी योग्यता है। यही उसकी ट्रस्टी के लायक योग्यता है। जिस जीव को

ऐसा विचार न आता हो वह तो योग्य ही नहीं है। अब ऐसे योग्य व्यक्ति यदि त्यागपत्र दे देंगे तो समाज में, ट्रस्ट में क्षति नहीं होगी ?

पूज्य भाईश्री :- पहली चिंता आत्मा की करें या पहली चिंता समाज की करें ? इसका थोड़ा गहराई से विचार करें। जैसे कि मैं इस संसारमें से सिद्धालय में चला जाऊँगा और इसी तरह मेरे पीछे सब चलने लगे तो समाज का क्या होगा ? तात्पर्य ऐसा है कि खुद के परिणाम सुधारने के लिए कोई भी कदम उठाना उचित ही है। आत्मश्रेय को प्रधानता देनी चाहिए। यह ज्ञानी का मार्ग है। उन्होंने (कृपालुदेव ने) क्या किया ? कभी कागज़ नहीं लिख सके तो माफ़ी माँग लेते हैं !! बात तो सही है आपको जो स्पष्टीकरण चाहिए वह नहीं मिल रहा है, मार्गदर्शन नहीं मिल रहा है, जब कि आपकी उलझन का ईलाज हमारे पास है फिर भी आपको नहीं प्राप्त होता है, इसलिए अवश्य आपको दिक्कत रहती है जिसमें मैं निमित्त हो रहा हूँ, यह भी मैं जानता हूँ। लेकिन मैं क्या करूँ ? मेरे परिणाम काम नहीं कर रहे हैं ! पत्र लिखने बैठता हूँ तो मेरे से लिखा नहीं जाता, अधूरा छोड़ देना पड़ता है !! कभी लिखने का प्रयत्न करे और बीच में अधूरा छोड़ देना पड़े तो क्या करें ? परिणाम काम नहीं करते हैं, न करते हो तो आत्मा पर जबरदस्ती थोड़ी कर सकते हैं ?

इसलिए सहज होता है, सहज विकल्प आये और काम होना होगा वैसे होगा, नहीं होना होगा तो नहीं होगा। ऐसी न्याय-नीति से प्रवर्तन करने में परिणाम में अगर कोई तीव्र रस का कारण नहीं बनता हो, सहज ही होता हो जब तो ठीक है। (लेकिन) तीव्र रसपूर्वक करना पड़े तो ऐसा कर्तव्य नहीं है। इससे तो (अच्छा

है) दूर रहें। यही तो उन्होंने कहा कि ऐसे-ऐसे प्रसंग को छोड़ देना, ऐसे-ऐसे साधनों का त्याग कर देना। यानी कि संस्थाओं के कार्य में फँसने जैसा नहीं है।

गुरुदेव जैसे उपकारी (पुरुष) हुए हैं, जिनका हमारे ऊपर उपकार है, एक ऋण है कि जिसे हम चुका नहीं सकते। इसलिए हम यथाशक्ति, यथाभक्ति उनके शासन का कार्य करें, सेवा करें, यह हमारा फ़र्ज है। लेकिन आत्मा इसमें फँस जाये वैसे नहीं। यह संतुलन तो रखना पड़े ऐसा है।

दुकान पर ग्राहक आ जाये तब क्या करते हैं ? हमारी लागत से कम दाम में माल देते हैं क्या ? जितना मुनाफा लेने का नक्की किया हो उतना लेते हैं। फिर भी सामनेवाले को कैसे समझाते हैं ? क्या ऐसा कहते हैं कि, 'चल..चल रास्ता पकड़, लेना है तो ले, इससे कम दाम में नहीं मिलेगा।' ऐसा कहेंगे तो क्या होगा ? 'लिया....लिया, तुम्हारा काम नहीं है लेना !' ऐसा करें तो क्या होगा ? कोई खड़ा भी रहेगा ? खड़ा भी नहीं रहेगा। इसलिए वहाँ तो उसे समझाते भी हैं और अपने नक्की किये अनुसार मुनाफा लेकर माल बेचते भी हैं। वह तो मुफ्त में देंगे तो भी (ले लेगा) ! ग्राहक तो चीज ही ऐसी है कि मुफ्त में देना चाहोगे तो कहेंगा ले जाने की मजदूरी आपको देनी होगी ! छिलका उठवाते है कि नहीं मीलमें से ? मूँगफली को खोलते हैं न ! उसके छिलके का पूरा ढेर लगता है। अब चाहिए तो उसे मुफ्त लेकिन ऊपर से क्या कहेगा, उठवाने के पैसे आपको देने पड़ेगे। ग्राहक तो ऐसी चीज़ है ! आप जितनी कीमत बताओगे, उससे कम में माँगनेवाला है और मुफ्त में ले जाने का कहोगे तो मजदूरी माँगनेवाला है !! फिर भी आप अपने ढंग से काम करते हो इसका मतलब क्या

हुआ ? कि न तो आप उसे धक्का देते हो, न तो आप मुफ्त में देते हो ! दोनों में से एक भी नहीं करते। ऐसा संतुलन बनाये रखते हो कि नहीं ? कोई भी काम में किसी न किसी से Adjustment करना पड़ता है कि नहीं ? फिर चाहे भाई हो, घर का कोई भी सदस्य हो तो उसके साथ भी Adjustment करना पड़ता है।

वैसे यहाँ भी अपने परिणाम में (संतुलन बनाना पड़ता है)। यह एक आचरण का विषय है। कैसे वर्तना, प्रवृत्ति करना यह एक आचरण का विषय है। जहाँ आचरण का विषय हो वहाँ एकदम सिद्धांत पकड़ने जाये और खुद की शक्ति नहीं होगी तो भी परिणाम गिर जायेंगे। इसको उत्सर्ग कहते हैं। जब कि Adjustment करना वह अपवाद है। उत्सर्ग का अनुसरण करे चाहे अपवाद का अनुसरण करे, परंतु खुद के परिणाम में गिरावट न आये, और विकास हो, इस एक ही लक्ष्य व हेतु से अगर खुद प्रवृत्ति करे तो उसमें से सांगोपांग यथार्थरूप से पार उतर जाता है, वरना गड़बड़ होगी, होगी और अवश्य होगी।

मुमुक्षु :- समाज व संस्था की चिंता करनेवाले ऐसे बहुत से लोग चले गये !

पूज्य भाईश्री :- फिर भी समाज वैसा का वैसा रह गया। सही बात है। काफ़ी समाज सुधारक हो चुके, बहुत-से संत, ज्ञानी व तीर्थंकर भी हुए, लेकिन काल की हीनता की वज़ह से समाज की स्थिति बिगड़ी है। अभी तो ज्यादा बिगड़ी हुई है। आज से ५० साल पहले (जो स्थिति थी) इससे अभी ज्यादा बिगड़ी है। और पचास साल से सौ साल पहले (जो परिस्थिति थी) उससे भी ज्यादा पचास साल में बिगड़ी है। फिर ये इतने सारे तीर्थंकर हुए, इतने-इतने समाज सुधारक हुए, इनकी फलश्रुति में बिगाड़

बढ़ा कि कम हुआ ? इसकी फलश्रुति क्या ? इसका Result क्या आया ? बिगाड़ या सुधार ? इसमें तो ऐसा है कि काल अपना काम करता रहता है। नये-नये जीव आते हैं, अपने पूर्वकर्म लेकर, अपनी योग्यता लेकर आते हैं। कौन किसको सुधारे ? कौन किसका काम करें ?

सेवा करने की भावना हो, श्रीगुरु का उपकार है और सेवा करने की भावना हो तो अपने ढंग से सेवा कर सकते हैं। बात पूरी हो गई। वह तो फिर एक प्रकार का प्रदान ही है न ! अपनी तरफ से एक प्रदान है। इसमें कोई हरजा नहीं, कोई मुश्किली नहीं है, इसमें परिणाम बिगड़ेंगे नहीं।

मुमुक्षु :- उसमें तो ऐसा ही लगता है कि खुद का नुकसान है। और काल अनुसार जो होना होता है वही होता है।

पूज्य भाईश्री :- वह तो होगा ही।

मुमुक्षु :- (लेकिन) यह तो सामाजिक नहीं अपितु पारमार्थिक ट्रस्ट है !

पूज्य भाईश्री :- हाँ, ये सारे पारमार्थिक ट्रस्ट हैं। बात तो सही है। पारमार्थिक ट्रस्ट हैं, इसलिए परमार्थ को लक्ष्य में रखकर, परमार्थ की मुख्यता रखकर (कार्य करना है)। वह तो न्याय और नीति से ऊपर की चीज़ है। समाज में तो न्याय-नीति है। जब कि परमार्थ में तो न्याय-नीति से थोड़ी ऊपर के Stage की बात है। अतः इसमें तो एकदम पवित्र भावना पूर्वक जितनी भी सेवा प्रदान करे इसमें खुद को कोई नुकसान नहीं है। अवश्य सेवा करो, करनी चाहिए और करने की भावना भी होनी चाहिए। इसमें कोई शक नहीं है। ऐसा नहीं कि 'मुझे कुछ करना नहीं है।' क्योंकि वर्तमान परिस्थिति में गुरुदेवश्री का उपकार है। हमारे ऊपर

उनका बहुत बड़ा ऋण है। इसलिए समाज में और गुरुदेवश्री के अनुयायी वर्ग में सुव्यवस्था रहे, उनका दिया हुआ, उनका प्रदान किया हुआ जो महान तत्त्व है, इस तत्त्व का ज्यादा से ज्यादा प्रचार हो, वह ज्यादा सुरक्षित रहे, बना रहे, उसका अनेक जीव लाभ लें, ऐसी-ऐसी भावना तो मुमुक्षु जीव को अवश्य होगी। लेकिन इसप्रकार नहीं कि, खुद ही इसमें फँस जाये व अपना हित चूक जाये, वैसे नहीं होना चाहिए। ऐसा जो प्रकार बनता है वह इच्छनीय नहीं है। इतनी बात जरूर है। खुद को नुकसान न हो इतना ध्यान रखना है।

मुमुक्षु :- इस मार्गदर्शन के अनुसंधान में त्यागपत्र देने का विचार तो नहीं आता है।

पूज्य भाईश्री :- त्यागपत्र देने का प्रश्न नहीं है लेकिन यह बात तो जिसके परिणाम बिगड़ते हो (उसके लिए) है। खुद के परिणाम बिगड़ते हो तो (कह देना) कि मेरी योग्यता इतनी हलकी है, आप मुझे सेवा का काम दीजिए - मैं सेवा कर लूँगा। निम्नकोटि का कोई भी काम दे दो।

वैष्णव में भागवत् के अंदर बहुत अच्छा दृष्टांत आता है। पांडवों ने राजसूर्य यज्ञ किया, उसमें समूह भोजन रखा था। यज्ञ में तो ब्राह्मिन, वैष्णव, साधर्मी सब आते हैं। सब खाना खा ले उसके बाद श्रीकृष्ण झाड़ू लेकर सफाई करते थे। क्या करते थे ? (सब ने जहाँ खाना खाया उस जगह को साफ करते थे)। वे उनके मामाजी के लड़के थे। मामा-बुआ के भाई थें। उनके कुटुंब में प्रसंग था। सबके खा लेने के बाद में ये (झाड़ू निकालते थे) श्रीकृष्ण तीन खण्ड के अधिपति थे, नारायण थे। नारायण की पदवी थी, वासुदेव की पदवी थी। इसका अर्थ क्या हुआ ? उन लोगों ने

तो भले ही कथा बना ली हो, परंतु उसमें एक आदर्श रहा है कि जब कोई धार्मिक काम हो, छोटे से छोटा काम हो, छोटी से छोटी सेवा हो लेकिन उसे करने के लिए बड़े से बड़े लोग तैयार होते हैं। पुण्य की अपेक्षा से समाज में बड़े से बड़ा आदमी हो, श्रीमंत हो, राजा हो, सेठ हो चाहे कोई भी हो, वह छोटे से छोटी सेवा करने के लिए तैयार हो जाएगा। वह छोटे से छोटा कार्य कर लेगा। वीतराग शासन और वीतरागता के प्रति उसकी इतनी विनम्रता है कि चाहे जैसा काम दे दो ! सामने से कोई भी छोटा कार्य कर लेगा। ऐसी लघुता, वास्तव में वह उसका गौरव है। वह उसकी अशोभा तो नहीं परंतु उसकी शोभा है !! इसलिए जिसको सेवा करनी हो उसको तो कोई परेशानी है ही नहीं। सेवा करने के लिए तैयार रहे ! शर्त इतनी है कि अपने परिणाम को सँभाल कर ! परिणाम में किसी भी प्रकार का तीव्र शुभाशुभ रस नहीं आना चाहिए। अशुभ भी नहीं और शुभ भी नहीं। तीव्र रसपूर्वक प्रवर्तन नहीं करना है।

मुमुक्षु :- मार्गदर्शन अच्छा मिला है परंतु जो भेदरेखा छाँटनी है इसमें काफ़ी जागृति चाहिए।

पूज्य भाईश्री :- इसलिए तो Salesmanship का दृष्टांत दिया। इसमें भेदरेखा ऐसी है कि, न तो ग्राहक को जाने देना है और नहीं माल मुफ्त में देना है। अपने दाम में देना है और ग्राहक को छोड़ना भी नहीं है। वहाँ एक-दूसरे से विरुद्ध काम एक साथ करते हैं कि नहीं ? उसका नाम ही होशियारी है, उसका नाम Tactic है।

वैसे यहाँ भी खुद शुभाशुभ परिणाम में खड़ा है तो खुद के योग्य शुभाशुभ भाव हो तो इस तरह वह सेवा प्रदान करे। वह

भी अपनी योग्यता का ही विषय है। और ऐसा करने में खुद के परिणाम बिगड़े नहीं उसका भी विचार करना चाहिए। क्योंकि चाहे जितने विचार व कार्य करने के - अच्छे से अच्छे कार्य करने के मनोरथ हो तो भी वे होंगे ही, ऐसा देशकाल (अभी तो) देखा नहीं जाता।

हम जो चर्चा करते हैं उसमें आता है, तुरंत ही आयेगा। भगवान महावीरस्वामी अंतिम तीर्थकर हुए। वैसे तो तीर्थकर के साथ अनेक जीव मोक्ष में जाते हैं, लेकिन उनके साथ कोई नहीं गया ! वैसे तो ३० साल केवलज्ञान पद में रहे। ४२ से ७२ (साल तक)। ७२ साल की उनकी आयु थी न ? तीस साल की उम्र में दीक्षा ली, १२ साल तपश्चर्या की, ४२ साल की उम्र थी तब केवलज्ञान हुआ। और ७२ वीं साल में निर्वाणपद है। उन तीस सालों में कोई केवली नहीं हुए, तत्पश्चात् तीन केवली हुए। क्योंकि गणधर थे वे चरमशरीरी थे। गौतमस्वामी, सुधर्मास्वामी और जंबुस्वामी - तीन गये हैं। लेकिन ये तीन पंचमकाल में गये हैं। जब काल ही ऐसा चल रहा है कि जिसमें हीन परिणामी जीवों का बाहुल्य - बहुल्यता है, विशेषता है, फिर तो ऐसी ही परिस्थिति चलनेवाली है। अंतिम तीर्थकर के समय से ही हुंडावसर्पिणी काल का प्रभाव दिखने लगा है। बाद में अभी तो २५०० साल और बीत चुके तो परिस्थिति ज्यादा बिगड़ जाये, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

८४४ वाँ (पत्र) है। पत्रा - ६३७। 'कराल काल !' कैसा लिया ? 'कराल काल ! इस अवसर्पिणीकाल में चौबीस तीर्थकर हुए। उनमें अंतिम तीर्थकर श्रमण भगवान श्री महावीर दीक्षित हुए भी अकेले !' अकेले दीक्षित हुए, उनके साथ और कोई दीक्षित

नहीं हुए। वरना तीर्थकर जब दीक्षा लेते हैं तब हजारों राजा साथ-साथ दीक्षा ले लेते हैं। साधारण गरीब आदमी नहीं, (कोई) राजा राजकाज छोड़-छोड़कर दीक्षा ले लेते हैं, क्या ? **‘सिद्धि प्राप्त की भी अकेले ! उनका भी प्रथम उपदेश निष्फल गया।’** ऐसा यह काल है !!

मुमुक्षु :- चतुर्थ काल में प्रत्येक तीर्थकर के साथ काफ़ी लोग मोक्ष गये जब कि इनके साथ कोई मोक्ष नहीं गया, इसका कोई कारण होगा क्या ?

पूज्य भाईश्री :- इसलिए उन्होंने काल का कारण बतलाया न ! कारण यह है कि हीन परिणामी जीवों का प्रमाण अधिक है। हीन योग्यतावाले जीवों की संख्या इस काल में ज्यादा है। ऐसा कहना चाहते हैं।

मुमुक्षु :- अभी पँचम आरा शुरू नहीं हुआ था ?

पूज्य भाईश्री :- (तब) पंचम आरा शुरू नहीं हुआ था परंतु हुंडावसर्पिणी तो पहले से ही था। अवसर्पिणी और उसमें भी हुंडावसर्पिणी। अवसर्पिणी का अर्थ है उतरता (काल), लेकिन इसमें भी यह तो हुंडावसर्पिणी है ! इसका मतलब काफ़ी हलका काल है। नीच कोटि के जीवों की संख्या बढ़ जाती है। ऐसा बनता है।

अब देखो इन्होंने (कृपालुदेव ने) कहाँ से माप निकाला ? कि खुद एक असाधारण व्यक्ति थें ! ३१ वाँ वर्ष चलता है न ? करीब-करीब निवृत्ति ले ली है। ३० वर्ष बाद बाह्य निवृत्ति में आये हैं। ३१ वें वर्ष में विशेष निवृत्ति में आये हैं। ३२ वें वर्ष में तो पूरी निवृत्ति में आ गये हैं। (खुद तो) वैसे शासन चला सके ऐसे समर्थ पुरुष थे। एक-एक बात पर उनका उपयोग तो देखो !

कोई एक Issue खड़ा होता है, बाहर का चाहे अंदर का, समाज का चाहे शासन का, उनका उपयोग कितनी गहराई तक जाता है !! उस वक्त भी उनके परिचय में आये हुए दो-चार जीव, गिने-चुने कोई-कोई पात्रतावान जीव मालूम पड़ते हैं ! जब समाज पर दृष्टिपात करते हैं तो ऐसा लगता है कि, आहाहा...! लोग लाखों कोस दूर हैं। मूलमार्ग से लोग (लाखों कोस दूर हैं) ! यह बात तो आज से १०० साल पहले की है ! कि मूलमार्ग से लोग लाखों कोस दूर हैं। वापिस मोड़ना चाहूँ तो भी कैसे शक्य है ? कोई शक्यता नहीं दिखती है। परिस्थिति कोई शक्यता(वाली) दिखती नहीं है। इसलिए लिखने में आ गया कि यह कराल काल है ! यह काल ही बहुत कराल काल है।

यह कराल काल है। जीवों के परिणाम इतनी हलकी कक्षा के हैं कि इसका कोई ईलाज ही जैसे नहीं है। ठीक है, भावना अनुसार विकल्प आयेगा लेकिन कार्य तो जो होना होगा वही होगा, नहीं होनेवाला नहीं होगा।

इसलिए सोगानीजी ने लिखा न ! वे खुद गुप्त रह गये हैं। उन्होंने ऐसी बात लिखी है - ५५८ वाँ (बोल है)। 'पहले अपनी (निश्चय) प्रभावना करके... अपना सुख पीने में मग्न रहो।' (अर्थात्) आत्मा में अपनी निश्चय प्रभावना करके अपना सुख पीने में (मग्न रहो)। भीतर में चैतन्य का अमृत है। आत्मा की महानता इस एक ही कारण से है। जिसे सुधारस कहते हैं ऐसा अमृतरस, चैतन्य अमृत आत्मा में अनंत... अनंत... अनंत... अनंत... (भरा है) ! जिसकी मात्रा की हद नहीं है इतना भरा पड़ा है !! उसे प्रगट कर पीने में मग्न रहो। 'बाद में जैसा-जैसा योग होता है...' बाहर में जैसा योग होता है मतलब ? जो बनने योग्य हो वैसा योग होता है।

ज्ञानी को भी वैसा विकल्प आता है। विकल्प में खड़े हैं तब तक उन्हें भी विकल्प आता है। बस ! इससे ज्यादा उन्होंने कुछ नहीं सोचा है। बाहर के कार्यों के लिए ज्ञानियों ने इससे ज्यादा कोई विचार नहीं किया। सामने जो भी चीज़ आये, उस संबंधित पारमार्थिक दृष्टिकोण से अपना निर्णय दे देते हैं। पारमार्थिक दृष्टिकोण से अपना निर्णय दे देते हैं कि यह योग्य है - यह अयोग्य है। फिर तो योग हो वैसा बनता है, योग नहीं हो तो नहीं बनता।

मुमुक्षु :- (हमलोग) घर-गृहस्थी के काम में तो योग की चिंता नहीं करते हैं। घर में विचार नहीं करते हैं कि जैसा योग होगा वैसा होगा। इस न्याय को पकड़कर छल करें तो ?

पूज्य भाईश्री :- छल करेगा तो उसमें तो खुद का ही मायाचार है।

मुमुक्षु :- यहाँ तो ऐसा कहेगा कि योग होगा वैसे होगा। घर में तो ऐसे नहीं चलता है।

पूज्य भाईश्री :- यहाँ भी उसके अनुपात में ही आयेगा न। उसके प्रमाण में ही बात आयेगी ! वहाँ जिस प्रकार बात आये वैसे ही इसमें आनी चाहिए। यह तो सीधी-सी बात है। उसमें तो जो भी प्रकार बनेगा एक-सा ही बनेगा। फिर तो ऐसा है कि खुद माया करेगा तो द्रव्यकर्म तो किसी की शरम नहीं रखते। केवलज्ञानी का केवलज्ञान किसी की शरम नहीं रखता - वह सर्वचक्षु है। और जिसको एक भी चक्षु नहीं है, ऐसा द्रव्यकर्म भी किसी की शरम नहीं रखता, अनजाना है तो भी। दोनों में जैसे परिणाम हैं वैसा फोटो आ जाता है। एक तरफ यहाँ केवलज्ञान में फोटो आ जाता है, दूसरी ओर द्रव्यकर्म में फोटो आ जाता है। फिल्म में फोटो आता है कि नहीं ? सामने जैसी मुखाकृति हो वैसी ही फिल्म

उतरती है कि नहीं ? वैसे यहाँ द्रव्यकर्म में ऐसा ही फोटो आ जाएगा। जैसे भाव होंगे वैसा ही फोटो द्रव्यकर्म में आ जाएगा। उसमें अन्यथा कुछ नहीं होगा। विचार तो खुद को करना है। आत्महित या अहित का विचार तो खुद को करना है। सीधी बात तो यह है।

मुमुक्षु :- कराल काल है तो इसमें हमारे लिए क्या मार्गदर्शन है ?

पूज्य भाईश्री :- इसका अर्थ तो इतना ही है कि, परिणाम बिगाड़कर करने जाये, इतनी हद तक नहीं जाना चाहिए। खुद का हित साधते-साधते जो होगा वह सहज होगा। यह सिद्धांत है। इसका अनुसरण करके चलना। क्योंकि जो वस्तु नहीं होनेवाली है उसे करने जाओगे तो क्या होगा ? अशक्य को शक्य कर सकोगे क्या ? वह तो कर नहीं पाओगे। परिणाम में गड़बड़ होगी। कर्ताबुद्धि आये बिना रहेगी नहीं। कर्ताबुद्धि से करने का प्रश्न नहीं है। फिर तब ऐसा विचार नहीं करना चाहिए कि मैं घर में कर्ताबुद्धि से रहता हूँ इसलिए यहाँ भी कर्ताबुद्धि से चलूँ - ऐसे नहीं। कर्ताबुद्धि तो वहाँ भी तोड़नी है और यहाँ भी। कर्ताबुद्धि से नहीं होना चाहिए। तीव्रता मंदता दूसरा विषय है, कर्ताबुद्धि दूसरा विषय है। तीव्रता आ सकती है, करने की तीव्रता आ सकती है किन्तु कर्ताबुद्धि से नहीं आनी चाहिए। करने की मंदता आ सकती है किन्तु कर्ताबुद्धि से मंदता नहीं रखनी चाहिए, ऐसी बात है। दूसरे-दूसरे मार्ग से यह थोड़ा सूक्ष्म मार्ग है। सामान्यरूप से ऊपर-ऊपर के विचार से यह मार्ग थोड़ा अधिक सूक्ष्म है।

मुमुक्षु :- कर्ताबुद्धि का विषय बहुत अच्छा आया ?

पूज्य भाईश्री :- कर्ता होकर करने जाएगा वह परिणाम दूसरे

प्रकार से चलेंगे, भले ही तीव्र हो चाहे मंद हो। और जब कर्ता होकर नहीं करना है फिर परिणाम तीव्र हो चाहे मंद हो इसकी फिक्र करने की जरूरत नहीं है।

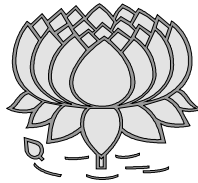
मुमुक्षु :- यह राजसूर्य यज्ञ के दृष्टांत से हमें क्या बोध लेना ?

पूज्य भाईश्री :- छोटे से छोटी सेवा के कार्य में शरम नहीं आनी चाहिए। मतलब कोई भी काम - छोटी-सी सेवा करने का काम (हो तो भी) कर लेना। इस जिनमंदिरजी में झाड़ू लगाने का काम हो तो भी कर लेना। ठीक ! यह तो भगवान का समवसरण ही है न ! इसमें कोई आपत्ति नहीं है। कर सकते हैं, करना चाहे तो इसमें कोई मान आड़े आने का सवाल नहीं है।

मुमुक्षु :- सामने से काम की पहल करनी चाहिए।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, सामने से पहल करनी चाहिए। पीछे रहकर नहीं अपितु सामने से करनी चाहिए।

ठीक है, चर्चा तो अपने उदय की ही होगी, उलझन और मंथन संबंधित ही होगी - ऐसी चर्चा तो करनी ही चाहिए, इसमें तो कोई सवाल नहीं है। (यह ५७२ पत्र यहाँ समाप्त होता है)।



श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट उपलब्ध प्रकाशन (हिन्दी)

ग्रंथ का नाम एवं विवरण	मूल्य
०१ अनुभव प्रकाश (ले. दीपचंदजी कासलीवाल)	-
०२ आत्मयोग (श्रीमद् राजचंद पत्रांक-४६९, ४९१, ६०९ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२०-००
०३ अनुभव संजीवनी (पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा लिखे गये वचनामृतोंका संकलन)	१५०-००
०४ आत्मसिद्धि शास्त्र पर प्रवचन (पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा)	५०-००
०५ आत्मअवलोकन	-
०६ बृहद द्रव्यसंग्रह	अनुपलब्ध
०७ द्रव्यदृष्टिप्रकाश (तीनों भाग-पूज्य श्री निहालचंदजी सोगानीजीके पत्र एवं तत्वचर्चा)	३०-००
०८ दूसरा कुछ न खोज (प्रत्यक्ष सत्पुरुष विषयक वचनामृतोंका संकलन)	०६-००
०९ दंसणमूलो धम्मा (सम्यक्त्व महिमा विषयक आगमोंके आधार)	०६-००
१० धन्य आराधना (श्रीमद राजचंद्रजीकी अंतरंग अध्यात्म दशा पर १ पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा विवेचन)	-
११ दिशा बोध (श्रीमद राजचंद्र पत्रांक-१६६, ४४९, ५७२ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२५-००
१२ धन्य पुरुषार्थी	-
१३ धन्य अवतार	-
१४ गुरु गुण संभारणा (पूज्य बहिनश्री चंपाबहिन द्वारा गुरु भक्ति)	१५-००
१५ गुरु गिरा गौरव	-
१६ जिणसासनं सव्वं (ज्ञानीपुरुष विषयक वचनामृतोंका संकलन)	०८-००
१७ कुटुम्ब प्रतिबंध (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-१०३, ३३२, ५१०, ५२८, ५३७ एवं ३७४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२५-००
१८ कहान रत्न सरिता (परमागमसारके विभिन्न वचनामृतों पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	३०-००
१९ मूलमें भूल (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके विविध प्रवचन)	०८-००
२० मुमुक्षुता आरोहण क्रम (श्रीमद राजचंद्र पत्रांक-२५४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	-
२१ मुक्तिका मार्ग (सत्ता स्वरूप ग्रन्थ पर पूज्य गुरुदेवश्रीके प्रवचन)	१०-००

२२	निर्भात दर्शनकी पगडंडी (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	१०-००
२३	परमागमसार (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके १००८ वचनामृत)	-
२४	प्रयोजन सिद्धि (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	०४-००
२५	परिभ्रमणके प्रत्याख्यान (श्रीमद राजचंद्र पत्रांक-१९५, १२८, २६४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२०-००
२६	प्रवचन नवनीत (भाग-१) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके खास प्रवचन)	२०-००
२७	प्रवचन नवनीत (भाग-२) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके खास प्रवचन)	२०-००
२८	प्रवचन नवनीत (भाग-३) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके ४७ नय के खास प्रवचन)	२०-००
२९	प्रवचन नवनीत (भाग-४) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके ४७ शक्ति के खास प्रवचन)	२०-००
३०	प्रवचन सुधा (भाग-१) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके प्रवचनसार परमागम पर धारावाही प्रवचन)	२०-००
३१	प्रवचन सुधा (भाग-२) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके प्रवचनसार परमागम पर धारावाही प्रवचन)	२०-००
३२	प्रवचनसार	अनुपलब्ध
३३	प्रंचास्तिकाय संग्रह	अनुपलब्ध
३४	सम्यक्ज्ञानदीपिका (ले. श्री धर्मदासजी क्षुल्लक)	१५-००
३५	ज्ञानामृत (श्रीमद् राजचंद्र ग्रंथमें से चयन किये गये वचनामृत)	-
३६	सम्यग्दर्शनके सर्वोत्कृष्ट निवासभूत छ पदोंका अमृत पत्र (श्रीमद रादचंद्र पत्रांक-४९३ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	१८-००
३७	सिद्धिपका सर्वश्रेष्ठ उपाय (श्रीमद् राजचंद्र ग्रंथमें से पत्रांक-१४७, १९४, २००, ५११, ५६० एवं ८१९ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२५-००
३८	सुविधि दर्शन (सुविधि लेख पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	४०-००
३९	समयसार नाटक	अनुपलब्ध
४०	समयसार कलस टीका	अनुपलब्ध
४१	समयसार	अनुपलब्ध
४२	तत्त्वानुशीलन (भाग-१,२,३) (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	२०-००
४३	तथ्य	अनुपलब्ध
४४	विधि विज्ञान (विधि विषयक वचनामृतोंका संकलन)	१०-००
४५	वचनामृत रहस्य (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके नाईरौबीमें हुए प्रवचन)	२०-००

વીતરાગ સત્સાહિત્ય પ્રસારક ટ્રસ્ટ
ઉપલબ્ધ પ્રકાશન (ગુજરાતી)

	ગ્રંથનું નામ તેમજ વિવરણ	મૂલ્ય
૦૧	અધ્યાત્મિકપત્ર (પૂજ્ય શ્રી નિહાલચંદ્રજી સોગાનીજીના પત્રો)	૦૨-૦૦
૦૨	અધ્યાત્મ સંદેશ (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના વિવિધ પ્રવચનો)	અનુપલબ્ધ
૦૩	આત્મયોગ (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૫૯૬, ૪૯૧, ૬૦૮ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૦૪	અનુભવ સંજીવની (પૂજ્ય ભાઈશ્રી દ્વારા લિખિત વચનામૃતોનું સંકલન)	૧૫૦-૦૦
૦૫	અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૧) બહેનશ્રીના વચનામૃત ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સર્ળંગ પ્રવચનો.	૩૦-૦૦
૦૬	અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૨) બહેનશ્રીના વચનામૃત ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સર્ળંગ પ્રવચનો.	૩૦-૦૦
૦૭	અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૩) બહેનશ્રીના વચનામૃત ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સર્ળંગ પ્રવચનો.	૩૦-૦૦
૦૮	અધ્યાત્મ પરાગ	-
૦૯	બીજું કાંઈ શોધમા (પ્રત્યક્ષ સત્પુરુષ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	-
૧૦	બૃહદ્ દ્રવ્યસંગ્રહ પ્રવચન (ભાગ-૧) (દ્રવ્યસંગ્રહ ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સર્ળંગ પ્રવચનો)	-
૧૧	બૃહદ્ દ્રવ્યસંગ્રહ પ્રવચન (ભાગ-૨) (દ્રવ્યસંગ્રહ ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સર્ળંગ પ્રવચનો)	-
૧૨	ભગવાન આત્મા (દ્રષ્ટિ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	-
૧૩	દ્વાદશ અનુપ્રેક્ષા (શ્રીમદ્ ભગવત્ કુંદકુંદાચાર્યદેવ વિરચિત	૦૨-૦૦
૧૪	દ્રવ્યદષ્ટિ પ્રકાશ (ભાગ-૩) (પૂજ્ય શ્રી નિહાલચંદ્રજી સોગાની તત્ત્વચર્યા)	૦૪-૦૦
૧૫	દસ લક્ષણ ધર્મ (ઉત્તમ ક્ષમાદિ દસ ધર્મો પર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીનાં પ્રવચનો)	૦૬-૦૦
૧૬	ધન્ય આરાધના (શ્રીમદ્ રાજચંદ્રજીની અંતરંગ અધ્યાત્મ દશા ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ દ્વારા વિવેચન)	૧૦-૦૦
૧૭	દિશા બોધ (શ્રીમદ્ રાજચંદ્રજી પત્રાંક-૧૬૬, ૪૪૯, અને ૫૭૨ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ દ્વારા પ્રવચનો)	૧૦-૦૦
૧૮	ગુરુ ગુણ સંભારણા (પૂજ્ય બહેનશ્રીના શ્રીમુખેથી સ્ફુરિત ગુરુભક્તિ)	૦૫-૦૦
૧૯	ગુરુ ગિરા ગૌરવ (પૂજ્ય સૌગાનીજીની અંગત દશા ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૨૦	ગુરુ ગિરા ગૌરવ (ભાગ-૧) (દ્રવ્યદષ્ટિ પ્રકાશ ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પત્રો પર સર્ળંગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૨૧	ગુરુ ગિરા ગૌરવ (ભાગ-૨) (દ્રવ્યદષ્ટિ પ્રકાશ ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પત્રો પર સર્ળંગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦

૨૨	જિજ્ઞાસાસણં સવ્વં (જ્ઞાનીપુરુષ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	૦૮-૦૦
૨૩	કુટુંબ પ્રતિબંધ (શ્રીમદ રાજયંદ્ર પત્રાંક-૧૦૩, ૩૩૨, ૫૧૦, ૫૨૮, ૫૩૭ તથા ૩૭૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૨૩	કહાન રત્ન સરિતા (ભાગ-૧) (પરમાગમસારમાંથી ચૂંટેલા કેટલાક વચનામૃતો ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈનાં પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૨૪	કહાન રત્ન સરિતા (ભાગ-૨) (પરમાગમસારમાંથી ક્રમબદ્ધ પર્યાય વિષયક ચૂંટેલા કેટલાક વચનામૃતો ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈનાં પ્રવચનો)	૩૦-૦૦
૨૫	કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા પ્રવચન (ભાગ-૧) કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૨૬	કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા પ્રવચન (ભાગ-૨) કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૨૭	ક્રમબદ્ધપર્યાય	-
૨૮	મુમુક્ષતા આરોહણ ક્રમ (શ્રીમદ રાજયંદ્ર પત્રાંક-૨૫૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૧૫-૦૦
૨૯	નિર્ભ્રાત દર્શનની કેડીએ (લે. પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ)	૧૦-૦૦
૩૦	પરમાત્માપ્રકાશ (શ્રીમદ્ યોગીન્દ્રદેવ વિરચિત)	૧૫-૦૦
૩૧	પરમાગમસાર (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના ૧૦૦૮ વચનામૃત)	૧૧-૨૫
૩૨	પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૧) (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ખાસ પ્રવચનો)	અનુપલબ્ધ
૩૩	પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૨) (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ખાસ પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૩૪	પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૩) (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ૪૭ નય ઉપર ખાસ પ્રવચનો)	૩૫-૦૦
૩૫	પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૪) (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ૪૭ નય શક્તિઓ ઉપર ખાસ પ્રવચનો)	૭૫-૦૦
૩૬	પ્રવચન પ્રસાદ (ભાગ-૧) (પંચાસ્તિકાયસંગ્રહ પર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના પ્રવચનો)	૬૫-૦૦
૩૭	પ્રવચન પ્રસાદ (ભાગ-૨) (પંચાસ્તિકાયસંગ્રહ પર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના પ્રવચનો)	-
૩૮	પ્રયોજન સિદ્ધિ (લે. પૂજ્યભાઈશ્રી શશીભાઈ)	૦૩-૦૦
૩૯	પથ પ્રકાશ (માર્ગદર્શન વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	૦૬-૦૦
૪૦	પરિભ્રમણના પ્રત્યાખ્યાન (શ્રીમદ રાજયંદ્ર પત્રાંક-૧૯૫, ૧૨૮ તથા ૨૬૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૪૧	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૧) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૪૦-૦૦
૪૨	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૨) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૮૫-૦૦
૪૩	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૩) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૪૪	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૪) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૪૦-૦૦
૪૫	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૫) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૪૬	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૬) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૪૭	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૭) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૪૮	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૮) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦

૪૯	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૯) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ગગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૫૦	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૧૦) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ગગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૫૧	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૧૧) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ગગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૫૨	પ્રવચનસાર	અનુપલબ્ધ
૫૩	પ્રચારિસ્તકાય સંગ્રહ	અનુપલબ્ધ
૫૪	પદ્મનદીપંચવિશતી	-
૫૫	પુરુષાર્થ સિદ્ધિ ઉપાય	અનુપલબ્ધ
૫૬	રાજ હૃદય (ભાગ-૧) (શ્રીમદ રાજચંદ્ર ગ્રંથ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સર્ગગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૫૭	રાજ હૃદય (ભાગ-૨) (શ્રીમદ રાજચંદ્ર ગ્રંથ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સર્ગગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૫૮	રાજ હૃદય (ભાગ-૩) (શ્રીમદ રાજચંદ્ર ગ્રંથ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સર્ગગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૫૯	સમ્યક્જ્ઞાનદીપિકા (લે. શ્રી ધર્મદાસજી ક્ષુલ્લક)	૧૫-૦૦
૬૦	જ્ઞાનામૃત (શ્રીમદ રાજચંદ્ર ગ્રંથમાંથી ચૂંટેલા વચનામૃતો)	૦૬-૦૦
૬૧	સમ્યક્દર્શનના નિવાસના સર્વોત્કૃષ્ટ નિવાસભૂત છ પદનો પત્ર (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૪૯૩ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૬૨	સિદ્ધપદનો સર્વશ્રેષ્ઠ ઉપાય (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૪૭, ૧૯૪, ૨૦૦, ૫૧૧, ૫૬૦ તથા ૮૧૯ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૬૩	સમયસાર દોહન (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજી સ્વામીના નાઈરોબીમાં સમયસાર પરમાગમ ઉપર થયેલાં પ્રવચનો)	૩૫-૦૦
૬૪	સુવિધિદર્શન (પૂજ્ય ભાઈશ્રી દ્વારા લિખિત સુવિધિ લેખ ઉપર તેમનાં પ્રવચન)	૨૫-૦૦
૬૫	સ્વરૂપભાવના (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૯૧૩, ૭૧૦ અને ૮૩૩ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૬૬	સમક્તિનું બીજ (શ્રીમદ રાજચંદ્ર ગ્રંથમાંથી સત્પુરુષની ઓળખાણ વિષયક પત્રાંક-ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૩૦-૦૦
૬૭	તત્વાનુશીલન (પૂજ્ય ભાઈશ્રી દ્વારા લિખિત વિવિધ લેખ)	-
૬૮	વિધિ વિજ્ઞાન (વિધિ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	૦૭-૦૦
૬૯	વચનામૃત રહસ્ય (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના નાઈરોબીમાં બહેનશ્રીના વચનામૃત પર થયેલાં પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૭૦	વચનામૃત પ્રવચન (ભાગ-૧)	-
૭૧	વચનામૃત પ્રવચન (ભાગ-૨)	-
૭૨	વચનામૃત પ્રવચન (ભાગ-૩)	-
૭૩	વચનામૃત પ્રવચન (ભાગ-૪)	-
૭૪	યોગસાર	અનુપલબ્ધ
૭૫	ધન્ય આરાધક	૧૦૦-૦૦

**वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्टमें से
प्रकाशित हुई पुस्तकोंकी प्रत संख्या**

०१	प्रवचनसार (गुजराती)	१५००
०२	प्रवचनसार (हिन्दी)	४२००
०३	पंचास्तिकायसंग्रह (गुजराती)	१०००
०४	पंचास्तिकाय संग्रह (हिन्दी)	२५००
०५	समयसार नाटक (हिन्दी)	३०००
०६	अष्टपाहुड (हिन्दी)	२०००
०७	अनुभव प्रकाश	२१००
०८	परमात्मप्रकाश	४१००
०९	समयसार कलश टीका (हिन्दी)	२०००
१०	आत्मअवलोकन	२०००
११	समाधितंत्र (गुजराती)	२०००
१२	बृहद द्रव्यसंग्रह (हिन्दी)	३०००
१३	ज्ञानामृत (गुजराती)	१०,०००
१४	योगसार	२०००
१५	अध्यात्मसंदेश	२०००
१६	पद्मनंदीपंचविंशती	३०००
१७	समयसार	३१००
१८	समयसार (हिन्दी)	२५००
१९	अध्यात्मिक पत्रो (पूज्य निहालचंद्रजी सोगानी द्वारा लिखित)	३०००
२०	द्रव्यदृष्टि प्रकाश (गुजराती)	१०,०००
२१	द्रव्यदृष्टि प्रकाश (हिन्दी)	६६००
२२	पुरुषार्थसिद्धिउपाय (गुजराती)	६१००
२३	क्रमबद्धपर्याय (गुजराती)	८०००
२४	अध्यात्मपराग (गुजराती)	३०००
२५	धन्य अवतार (गुजराती)	३७००
२६	धन्य अवतार (हिन्दी)	८०००
२७	परमामगसार (गुजराती)	५०००
२८	परमामगसरा (हिन्दी)	४०००
२९	वचनामृत प्रवचन भाग-१-२	५०००
३०	निर्भूत दर्शननी केडीए (गुजराती)	५०००

३१	निर्भूत दर्शनकी पगडंडी (हिन्दी)	७०००
३२	अनुभव प्रकाश (हिन्दी)	२०००
३३	गुरुगुण संभारणा (गुजराती)	३०००
३४	जिण सासणं सव्वं (गुजराती)	२०००
३५	जिण सासणं सव्वं (हिन्दी)	२०००
३६	द्वादश अनुप्रेक्षा (गुजराती)	२०००
३७	दस लक्षण धर्म (गुजराती)	२०००
३८	धन्य आराधना (गुजराती)	१०००
३९	धन्य आराधना (हिन्दी)	१५००
४०	प्रवचन नवनीत भाग-१-४	५८५०
४१	प्रवचन प्रसाद भाग-१-२	२३००
४२	पथ प्रकाश (गुजराती)	२०००
४३	प्रयोजन सिद्धि (गुजराती)	३५००
४४	प्रयोजन सिद्धि (हिन्दी)	२५००
४५	विधि विज्ञान (गुजराती)	२०००
४६	विधि विज्ञान (हिन्दी)	२०००
४७	भगवान आत्मा (गुजरात+हिन्दी)	३५००
४८	सम्यक्ज्ञानदीपिका (गुजराती)	१०००
४९	सम्यक्ज्ञानदीपिका (हिन्दी)	१५००
५०	तत्त्वानुशीलन (गुजराती)	४०००
५१	तत्त्वानुशीलन (हिन्दी)	२०००
५२	बीजुं काई शोध मा (गुजराती)	४०००
५३	दूसरा कुछ न खोज (हिन्दी)	२०००
५४	मुमुक्षुता आरोहण क्रम (गुजराती)	२५००
५५	मुमुक्षुता आरोहण क्रम (हिन्दी)	३५००
५६	अमृत पत्र (गुजराती)	२०००
५७	अमृत पत्र (हिन्दी)	२५००
५८	परिभ्रमणना प्रत्याख्यान (गुजराती)	१५००
५९	परिभ्रमणके प्रत्याख्यान (हिन्दी)	२०००
६०	आत्मयोग (गुजराती)	१५००
६१	आत्मयोग (हिन्दी)	३०००
६२	अनुभव संजीवनी (गुजराती)	१०००
६३	अनुभव संजीवनी (हिन्दी)	१०००

६४	ज्ञानामृत (हिन्दी)	२५००
६५	वचनमृत रहस्य	१०००
६६	दिशा बोध (हिन्दी-गुजराती)	३५००
६७	कहान रत्न सरिता (हिन्दी-गुजराती)	२५००
६८	प्रवचन सुधा (भाग-१)	१४००
६९	कुटुम्ब प्रतिबंध (हिन्दी-गुजराती)	३५००
७०	सिद्धपद का सर्वश्रेष्ठ उपाय (हिन्दी-गुजराती)	३०००
७१	गुरु गिरा गौरव (हिन्दी-गुजराती)	३५००
७२	आत्मसिद्धि शास्त्र पर प्रवचन	७५०
७३	प्रवचन सुधा (भाग-२)	७५०
७४	समयसार दोहन	७५०
७५	गुरु गुण संभारणा	७५०
७६	सुविधिदर्शन	१०००
७७	समकितनुं बीज	१०००
७८	स्वरूपभावना	१०००
७९	प्रवचन सुधा (भाग-३)	१०००
८०	प्रवचन सुधा (भाग-४)	१०००
८१	कार्तिकेयानुप्रेक्षा प्रवचन भाग-१	१०००
८२	कार्तिकेयानुप्रेक्षा प्रवचन भाग-२	१०००
८३	सुविधि दर्शन (हिन्दी)	१०००
८४	प्रवचन सुधा (भाग-५)	१०००
८५	द्रव्यसंग्रह प्रवचन (भाग-१)	१०००
८६	द्रव्यसंग्रह प्रवचन (भाग-२)	१०००
८७	वचनमृत रहस्य (हिन्दी)	१०००
८८	प्रवचन सुधा (भाग-६)	१०००
८९	राज हृदय (भाग-१)	१५००
९०	राज हृदय (भाग-२)	१५००
९१	अध्यात्मसुधा (भाग-१)	१०००
९२	अध्यात्मसुधा (भाग-२)	१०००
९३	गुरु गिरा गौरव (भाग-१)	१०००
९४	अध्यात्म सुधा (भाग-३)	१०००
९५	प्रवचन सुधा (भाग-७)	७५०

९६ प्रवचन सुधा (भाग-८)	७५०
९७ राज हृदय (भाग-३)	७५०
९८ मुक्तिनो मार्ग (गुजराती)	१०००
९९ प्रवचन नवनीत (भाग-३)	१०००
१०० प्रवचन नवनीत (भाग-४)	१०००
१०१ प्रवचन सुधा (भाग-९)	७५०
१०२ गुरु गिरा गौरव (भाग-२)	७५०
१०३ प्रवचन सुधा (भाग-२) हिन्दी	१०००
१०४ प्रवचन सुधा (भाग-१०) (गुजराती)	७५०
१०५ प्रवचन सुधा (भाग-११) (गुजराती)	७५०
१०६ धन्य आराधक (गुजराती)	७५०